अली सरदार जाफ़री (26 नवंबर 1913–1अगस्त 2000) प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत में लेखकों की जो नई जमात उभरकर सामने आई उसमें अली सरदार जाफ़री का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी जाफ़री साहब ने शायरी, गद्य लेखन, कथा साहित्य, नाटक, समालोचना आदि के साथ रेडियो, टी.वी. और फ़िल्मों के लिए भी लिखा।

अली सरदार जाफ़री की शायरी में क्रांति का लक्ष्य केवल आज़ादी नहीं है बल्कि उस दौर के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव के साथ आम जन के वर्ग-संघर्ष को भी उजागर करने की चाह है।

नई दुनिया को सलाम, अम्न का सितारा, एशिया जाग उठा, एक ख़्वाब और, पत्थर की दीवार और *पैराहने-शरर* उनके प्रतिनिधि कविता संग्रह हैं। उनकी आलोचना की प्रमुख पुस्तकें हैं—*तरक़्क़ी-पसंद अदब, इक़बाल शनासी और पैग़म्बराने-सुखन।* उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार के अलावा इक़बाल सम्मान और पद्मश्री से भी नवाजा गया।

क़मर रईस : उर्दू के जाने-माने कवि-आलोचक क़मर रईस अपनी आलोचनात्मक कृतियों में सुलझी हुई भाषा-शैली के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने पंद्रह से ज़्यादा पुस्तकों का लेखन और संपादन किया। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के अलावा ताशकंद विश्वविद्यालय में भी उर्दू के प्रोफ़ेसर रहे। ताशकंद में पाँच वर्षों तक इंडियन कल्चर सेंटर के निदेशक और दिल्ली उर्दू अकादमी के उपाध्यक्ष भी रहे। उन्हें मौलाना आज़ाद पुरस्कार और ग़ालिब पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

जानकीप्रसाद शर्मा : इस विनिबंध के हिंदी अनुवादक जानकीप्रसाद शर्मा आलोचना एवं अनुवाद के क्षेत्र में व्यापक पैठ रखते हैं। आपकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं—*कहानी का वर्तमान, उर्दू साहित्य की परंपरा, शानी* (विनिबंध) और *उपन्यास : एक अंतर्यात्रा*। उर्दू से हिंदी में तीन दर्जन से ज़्यादा पुस्तकों का अनुवाद जिनमें से तेरह अनुवाद साहित्य अकादेमी, दिल्ली से प्रकाशित। लाजपत राय कॉलेज, साहिबाबाद (गाज़ियाबाद) में रीडर एवं हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त।

साहित्य अकादेमी

ISBN 81-260-4314-8

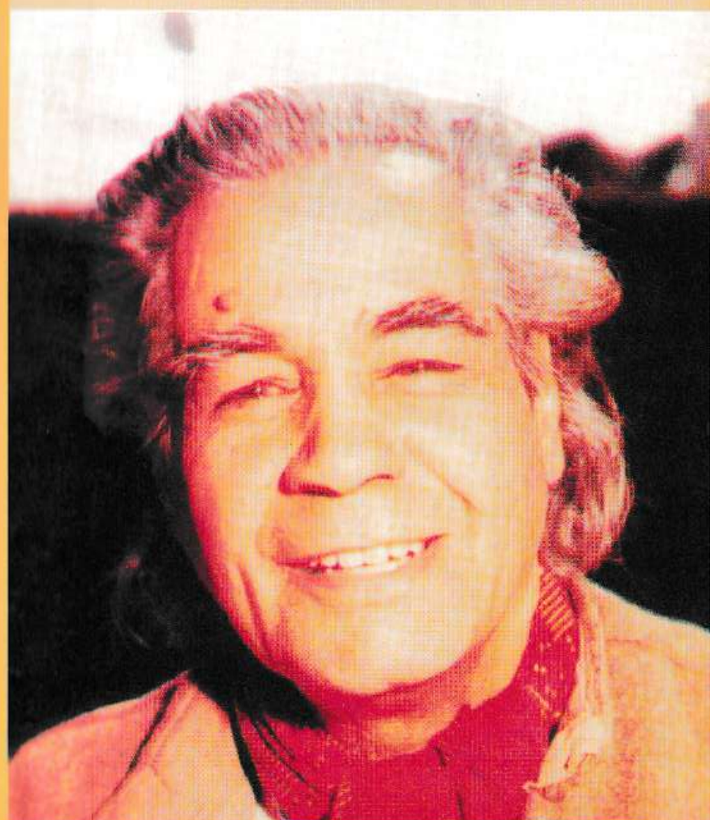
www.sahitya-akademi.gov.in

₹ 50

भारतीय साहित्य के निर्माता

अली सरदार जाफ़री

क़मर रईस





अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः यह सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुन कोंडा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

अली सरदार जाफ़री

क़मर रईस

उर्दू से अनुवाद

जानकीप्रसाद शर्मा

साहित्य अकादेमी

Ali Sardar Jafri : A monograph on modern Urdu writer by Qamar Rais, translated in Hindi by Janki Prasad Sharma, Sahitya Akademi, New Delhi (2014). ₹ 50

साहित्य अकादेमी

पहला संस्करण : 2014

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
Website : www.sahitya-akademi.gov.in
Email : sahityaakademisales@vsnl.net

क्षेत्रीय कार्यालय

4 डी. एल. खान मार्ग, कोलकाता-700 025

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलूरू-560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग (द्वितीय तल) 443, (304)
अन्ना सालइ, तेनामपेट, चेन्नई-600 018

ISBN 978-81-260-4314-9

मूल्य : पचास रुपए

मुद्रक : क्वालिटी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

दो शब्द

इतिहास में ऐसा भी होता है कि जनपक्षधरता और वैचारिक अर्थवत्ता से संपन्न बाज़ लोकव्यापी आंदोलन सिर्फ़ असाधारण व्यक्तियों को ही नहीं; ऐसे सृजनशील और समर्पित मंचों को भी जन्म देते हैं जो साहित्य एवं संस्कृति की दुनिया में क्रांतिकारी परिवर्तनों का बाइस बन जाते हैं। उनके हाथों बहुत कम समय में सर्जनात्मक धाराओं के नए दृश्य सामने आ जाते हैं जो सांस्कृतिक उत्कर्ष और बौद्धिक जागृति का सबब होते हैं। पहले विश्व युद्ध के बाद स्वाधीनता आंदोलन और लगभग 1940 के बाद प्रगतिशील आंदोलन–दो ऐसी ही बहुपार्श्वीय शक्तियाँ थीं जिन्होंने देखते ही देखते समूचे सांस्कृतिक परिदृश्य को बदल कर रख दिया और निस्संदेह रूप में युग-निर्माण का यह महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय की नई पीढ़ी के नोजवानों ने अपने वरिष्ठ लोगों के स्नेहपूर्व मार्गदर्शन में संपन्न किया। इस जोशीली युवा पीढ़ी में सरदार जाफ़री भी नुमायाँ तौर पर सामने आए। उनके अलावा उर्दू की दुनिया में असरारुल हक़ मजाज़, मुईन अहसन जज़्बी, फ़ैज़, सज्जाद ज़हीर, रशीद जहाँ, मख़दूम मुहीउद्दीन, अहमद नदीम क़ासमी, कृश्नचंदर, सआदत हसन मंटो, सिब्ते हसन, इस्मत चुग़ताई, हयातुल्लाह अंसारी, सुहेल अज़ीमाबादी, राजिंदर सिंह बेदी, एहतिशाम हुसैन, अब्दुल अलीम, कैफ़ी आज़मी, मजरूह सुल्तानपुरी, साहिर लुधियानवी और दूसरे कई फ़िल्मकार व बुद्धिजीवी अपनी सक्रिय सर्जनात्मकता के कारण लगभग आधी सदी तक पूरे सांस्कृतिक परिदृश्य पर छाये रहे। बेशक उनमें से कुछ शायद औसत प्रतिभा वाले थे लेकिन व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन से जुड़ाव के बाद धीरे-धीरे उनमें ऐसे गुण पैदा होते गए कि उनका शुमार युगप्रर्वतक क़लमकारों में किया जाने लगा। अहम बात यह है कि उनकी पहचान महज़ एक नई सोच के शाइर या लेखक की नहीं थी। वे एक सामाजिक

एवं राजनीतिक आंदोलन के जन्मदाता भी थे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के संघर्ष में किसी भी प्रकार के त्याग व बलिदान के लिए तत्पर रहते थे। वे अपने राष्ट्र तथा समूची मानवता की समस्याओं पर गहराई से सोचने वाले बुद्धिजीवी थे। वे आला दर्जे के जागरूक पत्रकार थे और अपने पाठकों में समय और समाज को समझने की दृष्टि पैदा करते थे। वे Performing Art, थियेटर, फ़िल्म, नृत्य और संगीत की मंडलियों में हिस्सा लेते थे। अफ़सोस इस बात का है कि ऐसे युगप्रवर्तक साहित्यकारों के बारे में न कोई श्रेष्ठ कोटि की जीवनी लिखी गई और न किसी दृष्टि-संपन्न प्रतिष्ठित लेखक ने उनके साहित्यिक योगदान का विस्तृत मूल्यांकन किया। पी-एच. डी. के सरसरी शोध-प्रबंधों को छोड़कर कोई ज़िंदा रहने वाला शोधपरक काम उनके बारे में सामने न आ सका। मेरा ख़याल है कि ऐसी सूरते हाल बांगला, मराठी, हिन्दी और दूसरी आधुनिक भाषाओं में नहीं है। अलबत्ता साहित्य अकादेमी ने बीसवीं सदी के नामवर साहित्यकारों के बारे में प्रामाणिक मोनोग्राफ़ प्रकाशित किए हैं जो संक्षेप में उनके योगदान पर प्रकाश डालते हैं।

सरदार जाफ़री का शुमार ऐसे ही युग-प्रर्वत्तक लेखकों और बुद्धिजीवियों में होता है। उनकी बहुमुखी सेवाओं के बारे में भारत और पाकिस्तान की साहित्यिक पत्रिकाओं ने विशेषांक प्रकाशित किए और कुछ जाने-माने लेखकों ने आलेख लिखकर उनके विशिष्ट योगदान से परिचित कराया था। यह सब सामग्री महत्त्वपूर्ण है लेकिन आसानी से उपलब्ध नहीं है। उर्दू भाषा और साहित्य के विद्यार्थियों और नई पीढ़ी के नौजवानों को ऐसे अध्ययन की ज़रूरत है जो समग्र रूप से उनकी महत्त्वपूर्ण सेवाओं का एक विनम्र आकलन प्रस्तुत कर सके।

प्रोफ़ेसर गोपीचंद नारंग (अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी) के निर्देश पर यह मोनोग्राफ़ लिखते हुए मैंने इसका ख़याल रखा है कि एक लेखक, शाइर और बौद्धिक की हैसियत से उनकी जो पहचान है, उसके उज्ज्वल पक्षों को उजागर कर सकूँ। यह संभावना भी है कि यह विनिबंध अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हो और इस तरह से अन्य भाषाओं के साहित्य-प्रेमी भी सरदार जाफ़री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकें।

एक बार फिर मैं अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी प्रोफ़ेसर नारंग का शुक्रगुज़ार हूँ कि उनके आग्रह पर ही यह मोनोग्राफ़ पूर्ण हो सका।

20 नवम्बर, 2007 **—क़मर रईस**

अनुक्रम

जीवन-वृत्त

(क) अवध की मिट्टी का बेटा

अली सरदार जाफ़री का जन्म सर ज़मीने-अवध के ऐतिहासिक शहर बलरामपुर में 26 नवम्बर, 1913 को हुआ। बचपन और लड़कपन का बड़ा हिस्सा इसी शहर में गुज़रा। इसलिए इस क्षेत्र की मिली-जुली संस्कृति, रंगारंग प्राकृतिक दृश्य, शे'रोअदब की परंपराओं और शांतिपूर्ण वातावरण से उनका भावनात्मक संबंध हमेशा बना रहा। अपनी कई नज़्मों और दूसरी रचनाओं में वे दयारे-अवध की गोद में गुज़ारे हुए पलों को बड़ी श्रद्धा से याद करते रहे। ऐसा लगता है कि उनके सृजनात्मक व्यक्तित्त्व के निर्माण में इस क्षेत्र के सुहाने वातावरण का ख़ासा हिस्सा रहा है। अपनी मशहूर नज़्म 'अवध की ख़ाके-हसीं' में लिखते हैं—

मैं रात के वक़्त अपने ख़्वाबों में चौंक पड़ता हूँ
जैसे मुझको अवध की मिट्टी बुला रही है
हसीन झीलें कँवल के फूलों की चादरों में ढँकी हुई हैं
फ़ज़ाओं में मेघदूत परवाज़[1] कर रहे हैं
न जाने कितनी मुहब्बतों के पयाम लेकर
घटाओं की अप्सराएँ अपनी
घनेरी ज़ुल्फ़ों में आख़िरी बार मुस्कुराकर,
ख़लीजे बंगाल[2] और बहरे-अरब[3] के मोती पिरो रही हैं
हरे परों और नीले फूलों के मोर ख़ुश होके नाचते हैं
क़दीम गंगा का पाक पानी ज़मीं के दामन को धो रहा है

1. उड़ान, 2. बंगाल की खाड़ी, 3. अरब सागर

वो खेतियाँ धान से भरी हैं
जहाँ हवाएँ अज़ल[1] के दिन से सितार अपने बजा रही हैं
हिमाला की बुलंदियाँ बर्फ़ से ढँकी हैं
इन आसमान बोस चोटियों को
सहर के सूरज ने सात रंगों की कलगियों से सजा दिया है

सरदार जाफ़री की एक जीवनीकार डॉ. रफ़िया शबनम आबिदी ने लिखा है कि उनके पूर्वजों का संबंध ईरान के एक नामी शहर शीराज़ से था। उनके एक पूर्वज हिज्रत करके पहरसर (भरतपुर) में आबाद हुए। बाद में प्रतिकूल परिस्थितियों के पेशेनज़र उनका कुनबा रियासत बलरामपुर स्थानांतरित हो गया जिसे उन्होंने अपना वतन बना लिया।

उनके दादा का नाम सैयद मेहदी हसन जाफ़री और पिता का नाम सैयद जाफ़र तैयार उर्फ़ बड़े भैया था। उनके बड़े भाई का नाम सैयद ज़फ़र अब्बास था। सरदार जाफ़री की सात बहनें थीं, उनमें से दो बहनों रबाब बानो और शहर बानो (सितारा) सरदार जाफ़री के संरक्षण में उनके साथ रहीं। बलरामपुर में अपनी ख़ानदानी ज़िन्दगी के बारे में सरदार जाफ़री अपनी कृति 'लखनऊ की पाँच रातें' में लिखते हैं—

"बलरामपुर से बाहर की दुनिया हमारे लिए कोई मानी नहीं रखती थी। यहीं बच्चे पैदा होते थे, जवान होते थे, बलरामपुर के स्कूल के बाद अलीगढ़ में तालीम हासिल करते थे और फिर शादी हो जाती थी और रियासत में मुलाज़मत मिल जाती थी।

ख़ानदान की छोटी-छोटी लड़ाइयाँ कभी-कभी होती थीं, वरना दिन हँसी ख़ुशी गुज़र जाता था और रात को भाई-बहन बिस्तरों पर लेट जाते थे। कोई एक बहन शर्लाक होम्ज़ की कहानियाँ, राशिदुल ख़ैरी के नाविल या अज़ीम बेग चुग़ताई की कोई किताब पढ़कर सुनाती। इससे थक जाने के बाद जिन्नातों के क़िस्से शुरू होते जो इंतिहाई दिलचस्प होने के बाद भी दिल में दहशत पैदा कर देते।"

('अली सरदार जाफ़री नम्बर 'अफ़्कार', कराची, पृ. 641)

(ख) सांस्कृतिक वातावरण

अवध की संस्कृति में शीया संप्रदाय और उसकी प्रथाओं की ख़ास अहमियत

1. सृष्टि का आरंभ

रही है। मर्सियाख़्वानी, सोज़ख़्वानी, ताज़ियादारी और दूसरी रस्मों को क़स्बों से लेकर लखनऊ और बलरामपुर जैसे शहरों तक बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता था। सरदार जाफ़री आत्मकथ्य में अपने बचपन के सांस्कृतिक वातावरण का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं—

"12 रजब और ईदे-ग़दीर बड़ी शान से मनाते थे। शोबान के महीने में बारहवें इमाम का जन्मदिन मनाते और अरीज़े डाले जाते थे और मुहर्रम बड़े जोशो-ख़रोश से मनाते थे।

चाँद रात को औरतें चूड़ियाँ तोड़ देती थीं और ज़ेवर उतार कर रख देती थीं और सब लोग काले कपड़े पहन लेते थे और बाहर कोठी के सबसे बड़े कमरे में ज़रीह[1] रखी जाती थी और अलम खड़े किये जाते थे। छतों में झाड़-फ़ानूस लगाये जाते थे। चाँदी और सोने के अलम के पंजे और सुनहरी काम के हरे, पीले और सिंदूरी पटके मुझे बहुत अच्छे लगते थे। मुहर्रम की सातवीं तारीख़ को मेहंदी उठती थी और मुझे अलीबन्द पहनाया जाता था। आठवीं को हज़रत अब्बास का अलम निकलता था और शबे आशूरा[2] अज़ाख़ाना[3] सजा दिया जाता था।

औरतें टोलियाँ बनाकर देहाती मर्सिए गाती हुई आती थीं और जवान लड़के हज़रत सुग़रा के क़ासिद के नाम पर चिट्ठी रसा बन कर आते थे। उनकी कमर में एक पटके के साथ घंटा बँधा होता था। चिट्ठी रसाओं की टोलियाँ अपने घंटे बजाती हुई आतीं और अज़ाख़ाने में मर्सिए गा-गाकर नाचती थीं। दस दिन तक मुसलसल मजलिसें होती थीं।

साल के और महीनों में मजलिसें और महफिलें होती थीं जिनकी बदौलत मैंने उस दौर के तमाम बड़े ज़ाकिरों[4] को सुना है और बड़े-बड़े धर्मज्ञानियों के हाथों को चुम्बन दिए हैं। अनीस के मर्सियों का बड़ा चर्चा था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कलमा और तकबीर के बाद शायद मेरे कानों ने पहली आवाज़ अनीस की सुनी है। मैं शायद पाँच-छः बरस की उम्र से मिम्बर[5] पर बैठकर सलाम और मर्सिए पढ़ने लगा था। सलाम और मर्सिए के अलावा भी मुझे बेशुमार अशआर याद थे। शायद इसी का असर था कि मैंने पन्द्रह-सोलह बरस की उम्र में ख़ुद मर्सिए कहने शुरू कर दिए थे और मर्सियों का असर आज भी मेरी शाइरी पर बाक़ी है।

1. ताज़िया, क़ब्र 2. नवीं और दसवीं मुहर्रम की दरमियानी रात 3. मातमख़ाना, इमामबाड़ा 4. हसन और हुसैन के कष्टों का बयान करने वाले 5. वह लकड़ी का ज़ीना जिस पर बैठकर मर्सिया पढ़ते हैं।

(अली सरदार जाफ़री नम्बर, 'अफ़्कार', कराची, पृ. 641-642)

सरदार जाफ़री की बहन सितारा जाफ़री ने लिखा है कि स्कूल के बाद फ़ुरसत के वक़्त में घोड़ा दौड़ाना, पेड़ों पर चढ़ना और शिकार खेलना उनका बेहतरीन मशग़ला था। अपने लिखने-पढ़ने के लिए उन्होंने एक अलग कमरा बना लिया था। वे नफ़ीस और ख़ूबसूरत चीजों के शौक़ीन थे। हर चीज़ तरतीब और सलीक़े से रखते थे। कमरे की दीवारों का रंग हल्का फ़िरोजी था। दीवारों पर इक़बाल और उनके पसंदीदा शाइरों की नज़्में और ग़ज़लें लिखी होती थी। खिड़की के पास उनके लिखने-पढ़ने की मेज़ और कुर्सी रखी होती थी। स्कूल जाते तो कमरे के दरवाज़े पर ताला लगाकर जाते थे ताकि कमरे की सजावट कोई ख़राब न करे।

(ग) शिक्षा-दीक्षा

उनकी आरम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। एक मौलवी साहब क़ुरआन के अलावा उर्दू व फ़ारसी की तालीम देते थे। मास्टर बशीर से अंग्रेज़ी पढ़ी। बलरामपुर के अंग्रेज़ी स्कूल लायल कालिजिएट में वे दाख़िल थे। तीसरी कक्षा से छठी कक्षा तक उन्हें मुंशी बदरी प्रसाद ने गणित की शिक्षा दी। लेकिन ऐसा लगता है कि सरदार जाफ़री स्कूल की पढ़ाई में ज़्यादा गंभीर नहीं थे। कई साल व्यर्थ गए। आख़िर 1933 में हाई स्कूल पास करके उच्च शिक्षा के लिए अलीगढ़ गए। लेकिन 1936 में अंग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ विद्यार्थियों की हड़ताल में शरीक होने की बिना पर यूनिवर्सिटी से निकाल दिए गए। इसके बाद उन्होंने एंग्लो अरेबिक कॉलेज देहली में दाख़िला लेकर यहीं से बी. ए. किया।

आले अहमद सुरूर ने अपने एक आलेख में अलीगढ़ में सरदार जाफ़री के निवास के बारे में अपने तास्सुरात बड़े दिलचस्प अंदाज़ में बयान किए हैं। लिखते हैं–

"लगभग 1933 में सरदार जाफ़री अलीगढ़ आए और फ़र्स्ट इयर में दाख़िला लिया। अलीगढ़ के अदबी हल्क़ों में उस वक़्त मजाज़ की बड़ी ख्याति थी और उनकी नज़्म 'इन्क़लाब' का ख़ासा चर्चा था। इसी नज़्म से प्रभावित होकर एक युवा शाइर सरदार जाफ़री ने 'आग' शीर्षक से एक नज़्म पढ़ी। शायद यह नज़्म सरदार के किसी संग्रह में नहीं है। 1935 में मैंने और रशीद अहमद सिद्दीक़ी ने मिलकर रिसाला 'सुहेल' के लिए लेख इकट्ठा करना शुरू किए। यह रिसाला 1936 में छपकर आया। लेख ज़्यादातर रशीद साहब के पास आते थे। मैं उनको

देखकर बड़ी सावधानी से मुक़्तदा ख़ाँ शेरवानी को छपने के लिए यूनिवर्सिटी प्रेस में भेज दिया करता था। एक बार रशीद साहब ने अपनी डेस्क में से, जिसमें उनके काग़ज़ात रखे रहते थे, एक ड्रामा निकाल कर दिया और कहा कि ज़रा देखिए। मुझे तो इसका अंदाज़े-बयाँ बहुत जानदार लगता है और इसकी उपमाएँ बहुत मुतास्सिर करती हैं। यह अलीगढ़ के एक नौजवान विद्यार्थी का लिखा हुआ है। रशीद साहब ने आगे और कहा कि जब मैंने पहली दफ़ा यह ड्रामा पढ़ा तो यक़ीन न आया कि यह इस तालिबे इल्म का ही लिखा हुआ है। मैंने उसको बुलवाया और उससे पूछा, 'यह तुमने लिखा है?' उसने मुझे सबूत में इस क़िस्म की अपनी रचनाएँ लाकर दीं और मुझे यक़ीन हो गया कि यह ड्रामा इसी की रचना है। ग़ालिबन ड्रामे का शीर्षक 'दो दीवाने' था। जहाँ तक मुझे इल्म है, यह सरदार जाफ़री का पहला प्रयास था जो 'सुहेल' पत्रिका के माध्यम से मंज़रे आम पर आया।

1936 में सरदार जाफ़री यूनिवर्सिटी से निष्कासित कर दिए गए। उन्होंने एक स्टुडेण्ट एजीटेशन में खुलकर हिस्सा लिया था जो शुरू तो बी. एम. हॉल में एक हड़ताल से हुआ था लेकिन बाद में यूनिवर्सिटी प्रशासन के खिलाफ़ प्रतिरोध में बदल गया। इसके बाद उन्होंने एंग्लो अरेबिक कालिज दिल्ली में दाख़िला ले लिया।"

कुछ दिन बाद सरदार जाफ़री ने पहले एल. एल. बी. और फिर एम. ए. अंग्रेज़ी में दाखिला लिया। उस ज़माने में वामपंथी सोच के विद्यार्थी राजनीतिक सरगर्मियों में बढ़ चढ़कर हिस्सा ले रहे थे। सरदार जाफ़री भी इसी युवा समुदाय से जुड़ गए थे और ख़ासे सरगर्म थे। नतीजा यह हुआ कि 1939-40 में युद्ध विरोधी आंदोलन में हिस्सा लेने के आरोप में उन्हें क़ैद कर लिया गया। लगभग आठ महीने जेल में रहे।

(घ) प्रगतिशील आंदोलन से संबद्धता

1938 का लखनऊ राजनीतिक सरगर्मियों का केंद्र बन गया था। वामपंथी सोच के कई प्रगतिशील साहित्यकार भी इस शहर में जमा हो गए थे। उनमें सज्जाद ज़हीर, डॉ. अब्दुल अलीम, सिब्ते हसन, अली सरदार जाफ़री, असरारुल हक़ 'मजाज़' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सिब्ते हसन अपने एक आलेख 'सरदार जाफ़री : चंद यादें' में लिखते हैं–

"दूसरी जंगे अज़ीम सर पर खड़ी थी जिस वक़्त मजाज़, सरदार जाफ़री

और मैंने मिलकर मासिक 'नया अदब' और साप्ताहिक 'परचम' लखनऊ से जारी किए। स्पेन में लोकतंत्र का परचम झुक चुका था...ब्रिटेन और फ्रांस की फ़ासिज़्म समर्थक हुकूमतों ने चेकोस्लावाकिया को हिटलर के हवाले कर दिया था।...

'नया अदब' के कर्ताधर्ता दरअसल सरदार जाफ़री थे। उन्हीं की लगन और अनथक मेहनत से यह पर्चा चलता था।"

—*'सरदार जाफ़री : शख़्स, शाइर और अदीब': सं. अब्दुल सत्तार दलवी, पृ. 67-68)*

'नया अदब' का पहला अंक 1939 में प्रकाशित हुआ। इसके प्रवेशांक में ही सरदार जाफ़री का 'तरक़्क़ी पसंद अदब' शीर्षक लेख छपकर आया। इसके संपादकीय और इस लेख में प्रगतिशील साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट किया गया। इसमें अतीत की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के ख़िलाफ़ बाग़ियाना तेवर की कड़ी निंदा की गई थी।

'नया अदब' युवा लेखकों में बेहद लोकप्रिय हो रहा था। जोश मलीहाबादी ने अपने पत्र 'कलीम' को भी इसी में विलीन कर दिया और अगस्त 1939 से यह पर्चा 'नया अदब' आरैर कलीम' नाम से प्रकाशित होने लगा।

विश्व युद्ध जारी था। सोवियत यूनियन पर नाज़ी ताक़तों का हमला हो चुका था। कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा हुआ था लेकिन 1942 के बीच में अंग्रेज़ी हुकूमत ने पार्टी पर से प्रतिबंध हटा लिया। अब पार्टी का केंद्र बंबई हो गई। सरदार जाफ़री भी पार्टी के होल टाइमर मेंबर बन कर बंबई चले गए। प्रगतिशील आंदोलन की सरगर्मियाँ भी तेज़ हो गईं। 1943 में प्रगतिशील लेखक संघ का चौथा अखिल भारतीय अधिवेशन बंबई में संपन्न हुआ। देश के विभिन्न भाषाओं के लेखकों ने इसमें हिस्सा लिया। सरदार जाफ़री भी संगठन के कामों के लिए बहुत समर्पित रहे।

सरदार जाफ़री अपने लिखने-पढ़ने की व्यस्तताओं और पार्टी के कामों के अलावा प्रगतिशील साहित्य पर गंभीरता से सोच रहे थे। बंबई में प्रगतिशील लेखक संघ की साप्ताहिक गोष्ठियों में वे जोशो-ख़रोश से हिस्सा लेते और बेबाकी से अपनी बात कहते थे। इसी गहन सोच-विचार का नतीजा यह उनकी किताब 'तरक़्क़ी पसंद अदब' जिसका प्रथम संस्करण 1951 में अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू (हिंद) से प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने इस आंदोलन की प्रेरक परिस्थितियों, इसके मूल उद्देश्यों और साहित्य में इसके प्रतिबिम्ब पर बड़ी आज़ादी और खुले ज़ेहन से लिखा। उनके कुछ विचारों को लेकर विवाद भी खड़े हो गए। इस किताब में

वे लिखते हैं—

"इस आंदोलन का कारनामा यह है कि इसने साहित्य के सामंती ढाँचे को तोड़ दिया और इस झूठी धारणा को ख़त्म कर दिया कि साहित्य का प्रयोजन केवल मनोरंजन है जो मुट्ठी भर पेट भरे आदमियों के मन बहलाव के लिए लिखा जाता है। इसी ने इस सिद्धांत का प्रवर्तन किया और इसे मनवा भी लिया कि साहित्य अवाम का तर्जुमान होता है, उन्हीं के जीवन की तस्वीरकशी करता है और उसकी आज़ादी के संघर्ष में शरीक होकर उसे आगे बढ़ाता है।"

('तरक़्क़ीपसंद अदब', 1957, पृ. 231)

सरदार जाफ़री की शादी सुल्ताना मिनहाज से 30 जनवरी, 1948 को बंबई में हुई। वे भी कम्युनिस्ट पार्टी की सक्रिय कार्यकर्ता थीं। उन्होंने दो बेटों नाज़िम और हिकमत और एक बेटी दुर्दाना को जन्म दिया। अपने पारिवारिक जीवन के बारे में सुल्ताना जाफ़री ने एक आलेख में लिखा है—

"हम लोग अँधेरी में स्थित पार्टी कम्यून में रहते थे। यह वह कम्यून था जिसमें किसी ज़माने में युद्ध बंदियों को रखा जाता था। सरदार बहुत उम्दा आदमी थे। बहुत खुले विचारों वाले थे। मुझे कभी कहीं जाने से नहीं रोका। मेरे लिए कभी लफ़्ज़ 'ना' का इस्तेमाल नहीं किया। हालाँकि उनकी मुस्तक़िल आमदनी का कोई ज़रिया नहीं था...मैंने उनके साथ बहुत भरपूर ज़िंदगी गुज़ारी। ऐसी भरपूर कि इससे बेहतर कोई ज़िंदगी हो नहीं सकती।

सरदार रात ही को लिखते थे। उस वक़्त जब घर के सारे लोग सो जाते, सरदार लिखने बैठते थे, अंदर के कमरे में जहाँ उनकी तमाम किताबें रखी हुई थीं। वे रात भर सोच-विचार करते, कुछ पढ़ते, कुछ लिखते और ख़ूब सिगरेटें पीते थे। मैं कभी रात में जाग जाती तो कहती, 'तुम कितनी सिगरेट पी रहे हो' लेकिन वे बुरा नहीं मानते थे। सिर्फ़ इतना कहते कि जब तक सिगरेट न हो, मेरा क़लम ही चलता।"

—*'अली सरदार जाफ़री' : संपादक अब्दुस्सत्तार दलवी, पृ. 50-52)*

बंबई में निवास के दौरान वे दो बार गिरफ़्तार भी हुए। उस ज़माने में कम्युनिस्ट दुश्मन नेता मोरारजी देसाई मुख्यमंत्री थे। पहली बार वे 20 जनवरी, 1949 को गिरफ़्तार किए गए और दूसरी गिरफ़्तारी 19 अप्रैल 1949 को हुई। इस बार वे आर्थर रोड जेल और सेंट्रल जेल नासिक में बंद रहे और लगभग सवा साल के बाद जुलाई 1950 में रिहा हुए। उनका बड़ा बेटा नाज़िम भी इसी दौरान पैदा हुआ। उनकी कई नज़्में इसी जेल जीवन की यादगार हैं।

सरदार जाफ़री ने कभी कोई स्थायी नौकरी नहीं की, न सरकारी न ग़ैर सरकारी। उनकी बेगम सुलताना जाफ़री अलबत्ता सोवियत हाउस ऑफ़ कल्चर में मुलाज़िम थीं। सरदार जाफ़री ने शुरू में साहिर और मजरूह की तरह फ़िल्मों में गीत और पटकथा लिखने की कोशिश की लेकिन उनका मिज़ाज ऐसा था कि उसे वे आय का ज़रिया न बना सके। एक पत्र में लिखते हैं–

"1963 के बाद मैं फ़िल्मों से दूर होता गया और अब क़तई कोई संबंध नहीं है मेरी आय का ज़रिया सिर्फ़ मेरा क़लम हे। आजकल नेहरू फ़ैलोशिप के तहत उर्दू शाइरी की इमेजरी पर काम कर रहा हूँ। अब तक इक्कीस हज़ार शब्दों और पदों का चयन कर चुका हूँ।"

'सरदार जाफ़री के ख़ुतूत' : अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, दिल्ली, पृ. 50)

(ङ) साहित्यिक एवं शैक्षिक गतिविधियाँ

धीरे-धीरे वे कम्युनिस्ट पार्टी की सरगर्मियों से दूर और सदस्यता से मुक्त हो गए। पत्रकारिता और साहित्यिक कार्यों में उनकी दिलचस्पी और व्यस्तता बढ़ने लगी। 1967 में उन्होंने बंबई से त्रैमासिक पत्र 'गुफ़्तगू' का प्रकाशन शुरू किया। यह पर्चा भी 'नया अदब' की तरह प्रगतिशील साहित्य का मुखपत्र था। इसके प्रवेशांक के संपादकीय में लिखते हैं–

"अदब और अदीब इस वक़्त एक भ्रामक दौर से गुज़र रहे हैं। विश्वास आहत हैं और आस्थाओं की साँस उखड़ी-उखड़ी सी है। हमारी नज़रों के सामने आदर्शों के चेहरे विरूपित हुए हैं और सपनों को क़त्लगाहों से गुज़रना पड़ा है। मूल्यों की सन्निपात जैसी कैफ़ीयत ने दिलों को दहला दिया है। इसके फैले हुए रेगिस्तानों में कहीं-कहीं नई सोच और नई सर्जनात्मकता की हरीतिमा दिखाई देती है लेकिन इनकी छाँव इतनी घनी नहीं है कि उर्दू अदब हड्डियों को पिघला देने वाली तपती हुई धूप से बच सके।"

(–'अली सरदार जाफ़री' : संपादक अब्दुस्सत्तार दलवी, पृ. 423)

'गुफ़्तगू' में नई और पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों की रचनाओं के अलावा 'पेशगुफ़्तार' शीर्षक से सरदार जाफरी के विचारोत्तेजक संपादकीय भी प्रकाशित होते थे। जिनमें उस समय की वैचारिक और साहित्यिक समस्याओं पर बेबाकी से टिप्पणी की जाती थी। 1968 तक 'गुफ़्तगू' निकलता रहा लेकिन फिर हृदय रोग के कारण वे कुछ साल तक इसे जारी न रख सके। बाद में फिर एक दोस्त रोशनलाल वढेरा की मदद से 'गुफ़्तगू' के नये दौर का आग़ाज़ हुआ और तरक़्क़ी

पसंद नम्बर के रूप में इसका एक वृहत् अंक प्रकाशित किया गया। उनके संपादन में प्रकाशित होने वाला 'गुफ़्तगू' का यह अंतिम अंक साबित हुआ।

इस दौरान सरदार जाफ़री नेहरू फ़ैलोशिप के अकादमिक काम के अलावा इक़बाल शताब्दी समारोह के महासचिव की हैसियत से इसकी व्यापक तैयारियों में जुटे रहे।

सरदार जाफ़री बहुत उद्यमी और जुझारू इन्सान थे। वे महाराष्ट्र उर्दू अकादेमी के डायरेक्टर, प्रगतिशील लेखक संघ (उर्दू) के अध्यक्ष, नेशनल बुक ट्रस्ट और दूसरी कई संस्थाओं के मानद सदस्य रहे। मुहम्मद इक़बाल, संत कबीर, जंगे आज़ादी के सौ साल और उर्दू के मुम्ताज़ शुअरा के बारे में 'हल्क़ए-याराँ' के नाम से दस्तावेज़ी (डॉक्यूमेंट्री) फिल्में बनायीं। ये सारे काम उनकी संगठनात्मक और सर्जनात्मक क्षमताओं के आईनादार थे।

सरदार जाफ़री एक व्यापक विज़न से संपन्न रचनाकार थे। उनके चिंतन की बुनियाद मार्क्सवाद पर थी लेकिन पौर्वात्य चिंतनधारा पर उनकी गहरी नज़र थी। वे फ़ारसी और उर्दू की क्लासिकी शाइरी और सूफ़ी परंपरा के अधीती थे। बाद में भक्ति आंदोलन के संबद्ध भारतीय कवियों का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया। इसी तरह के वामपंथी सोच के सुविख्यात कवियों मायाकोवस्की, पाब्लो नेरूदा और नाज़िम हिकमत जैसे क़द्दावर कलाकारों की कलात्मक बारीकियों पर भी गहरी नज़र रखते थे।

1954 में उन्होंने सोवियत लेखकों की दूसरी कान्फ्रेंस में शिरकत की थी। बाद में भी वे सोवियत यूनियन के सेमिनारों और जलसों में जाते रहे। कई सोवियत भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित हुए। ताशकंद के ओरयंटल इंस्टीट्यूट के एक स्कॉलर नवी मुहम्मदोफ़ ने 1965 में उनकी शाइरी पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

सिर्फ़ सोवियत यूनियन और समाजवादी देशों ही नहीं इंग्लैंड, कनाडा, अमरीका और पाकिस्तान के साहित्यिक आयोजनों में भी वे शिरकत करते थे। सफ़र के मुआमले में वे अपनी कमज़ोर और गिरती हुई सेहत की परवा भी नहीं करते थे। अगस्त 1985 में लंदन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्वर्ण जयंती शानदार पैमाने पर मनाई गई। सरदार जाफ़री ने मुल्कराज आनंद के साथ इसमें बड़ी सरगर्मी से हिस्सा लिया 1986 में लखनऊ और दिल्ली में भी प्रगतिशील आंदोलन और प्रलेस की स्वर्णजयंती मनायी गई तो इनकी परिचर्चाओं में उनकी सक्रिय भागीदारी रही। इन पंक्तियों का लेखक जब उर्दू विभागाध्यक्ष था तब दिल्ली

विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर उन्होंने 1987 में 'तरक़्क़ी पसंद तहरीक की आधी सदी' विषय पर वार्षिक व्याख्यान किया।

वास्तविकता यह है कि 1970 के बाद सरदार जाफ़री लेखन और साहित्यिक गतिविधियों में ज़्यादा समय गुज़ारने लगे। यह उनके वैचारिक क्षितिज के विस्तार का ज़माना था। शे'रगोई तो उनके व्यक्तित्व की बुनियादी पहचान थी लेकिन वे अपने विस्तृत अध्ययन की बिना पर चिंतन की नई दिशाओं की ओर आगे बढ़ रहे थे। मीर तक़ी 'मीर' और मिर्ज़ा ग़ालिब के दीवानों को उन्होंने बड़े व्यवस्थित रूप में संपादित किया और उर्दू तथा देवनागरी लिपि दोनों में प्रकाशित किया। उनका विचार था कि संत कबीर की कविता में एकेश्वरवादी दर्शन के जो प्रभाव हैं या मीराँबाई की कविता में कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम है, कमोवेश आध्यात्मिक चिंतन का यही रूप सूफ़ी संतों के काव्य में दृष्टिगत होता है। इसके मूल में मनुष्य मात्र की एकता और पारस्परिक प्रेम की भावना विद्यमान है। इसलिए उन्होंने कबीर और मीराँबाई के काव्य-संचयन अपनी सरगर्भित भूमिकाओं के साथ हिंदी तथा उर्दू दोनों में प्रकाशित किए। शहर बनारस के बारे में मिर्ज़ा ग़ालिब की फ़ारसी मस्नवी 'चिराग़े दैर' के उर्दू अनुवाद 'सोमनात ख़याल' के पीछे भी उनकी यही भावना दृष्टिगत होती है। उनकी मान्यता थी कि जिस तरह प्रगतिशील साहित्यांदोलन के असर में भारतीय साहित्य की एक नई अवधारणा सामने आई, उसी तरह प्राचीन भारतीय चिंतन में निहित शांति, भ्रातृत्व और मानव-मैत्री के मूल्यों पर ज़ोर देकर उन्हें एक राष्ट्रीय पहचान दी जा सकती है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे प्रगतिशील आंदोलन से दूर हो गए थे। मार्च 1995 में जब प्रगतिशील लेखक संघ (उर्दू) की एक यादगार कॉन्फ्रेंस हैदराबाद में आयोजित हुई, बावजूद इसके कि वे अस्सी पार कर चुके थे, उन्होंने बड़ी सरगर्मी से कान्फ्रेंस में हिस्सा लिया। सोवियत यूनियन का विघटन हो चुका था। इस वाक़ए का उन्हें दिली सदमा था। इसका कान्फ्रेंस में उन्होंने वही बातें कहीं, जो एक आलेख में पहले लिख चुके थे। उन्होंने कहा कि 'कम्यूनिज़्म रूस में ख़त्म हुआ है, हमारे यहाँ नहीं। कम्यूनिज़्म दरअसल एक तसव्वुर है, बेहतर ज़िन्दगी का। जो कुछ सोवियत यूनियन में था, वह कम्यूनिज़्म की तरफ़ जाने का सिर्फ़ एक रास्ता था।' उन्होंने कॉन्फ्रेंस के एक सत्र में रूस की अक्टूबर क्रान्ति के वैश्विक प्रभावों का जायज़ा लिया। लेकिन सच्चाई यह है कि सोवियत यूनियन के चुपचाप हुए विघटन की दुःखद घटना ने अन्य प्रतिबद्ध लेखकों की भाँति उन्हें भी हिलाकर रख दिया था। उनकी नज़्म 'अलविदा' में इस पीड़ा को महसूस

किया जा सकता है। इसके कुछ शे'र देखिए—

अलविदा ऐ सुर्ख़ परचम, सुर्ख़ परचम अलविदा
ऐ निशाने-अम्न मज़्लूमाने-आलम अलविदा
ऐ लिबासे-आबरूए-इब्ने-आदम अस्सलाम
ऐ रिदाए-सर बरहना[1] बिन्ते-मरियम[2] अलविदा
ऐ जलाले-कावा-ए-आहन गर[3] ज़हाक कुश
ऐ ज़वाले-नख़वते-असकंदरो-जम अलविदा[4]
आफ़ताबे-बत्न गीती की शुआएँ-शब शिकन
ऐ मताए-इनक़िलाबे-दौरे-आलम अलविदा
ऐ ग़ुरूरे-दस्ते-मेहनत ऐ शिकोहे बेनवा
हश्र तक दुनिया करेगी तेरा मातम अलविदा
दीदए-पुरनम से कल दिल ने कहा था 'मरहबा'[5]
कह रही है आज लेकिन चश्मे पुरनम अलविदा

सरदार जाफ़री के व्यक्तित्त्व का ताना-बाना वैविध्य एवं विरोधाभास पूर्ण तत्त्वों से बुना हुआ था। उनके बचपन के माहौल में एक ओर जागीरदारा तहज़ीब के मूल्य घुले-मिले थे तो दूसरी ओर उसमें धार्मिक शिक्षा, रीति-रिवाजों विशेष रूप से विद्या व्यसनी लोगों के प्रति श्रद्धा का भाव भी रचा-बसा था। युवावस्था में ही हालाँकि अपने तर्कशील स्वभाव के कारण वे बहुत-सी अतार्किक, वायवीय और पुरातनतावादी धारणाओं से स्वयं को मुक्त कर चुके थे लेकिन धार्मिक आस्था और इस्लाम की तारीख़ के ऐसे पहलू हमेशा उनके किरदार का हिस्सा बने रहे जो अन्याय, उत्पीड़न, मूल्यहीनता, और सामाजिक विषमता के ख़िलाफ़ जिहाद में उन्हें शक्ति और साहस प्रदान करते थे।

एक लेखक और शाइर की हैसियत से यों तो वे भावों व विचारों की दुनिया में खोये रहते थे और एक बेहतर ज़िंदगी के सपनों से उनका सरोकार

1. निर्वस्त्र की चादर
2. मरियम की बेटी
3. फ़िरदौसी के 'शाहनामा' का एक पात्र जो लोहार था और जिसके पैर में बँधे चमड़े से बना परचम उस फ़ौज ने इस्तेमाल किया जिसने ख़ूँख़ार बादशाह ज़हाक का क़त्ल किया।
4. सिकंदर और जमशेद जेसे बादशाहों का घमंड
5. शाबाश, वाह-वाह

था। लेकिन ज़िंदगी की बेरंग और कारोबारी सच्चाइयों से भी वे उदासीन नहीं थे। फिर यह कि सांगठनिक कार्यों में भी उनका सोच बहुत निर्णायक होता था। प्रगतिशील आंदोलन के वैचारिक परिप्रेक्ष्य के निर्माण के साथ-साथ इसकी कार्यवाहियों में भी वे सक्रिय भागीदारी करते थे। अलबत्ता वे अपने विचारों और रचनादर्शों का इज़हार करते हुए एक कठोर समझ को अपना लेते थे। इसके परिणामस्वरूप संवाद एक विवाद की सूरत अख़्तियार कर लेता था। सज्जाद ज़हीर ने भी इस बात को स्वीकार किया है और उनके दूसरे साथियों ने भी उनके व्यक्तित्व के इस पहलू की तरफ़ इशारा किया है और यह भी स्वीकार किया कि साहित्यिक संगोष्ठियों में सरदार इतने प्रामाणिक और तर्कसंगत ढंग से अपनी बात कहते थे कि अक्सर उनके विरोधी मुँह की खाते थे। युसूफ़ नाज़िम अपने विशेष अंदाज़ में एक लेख में कहते हैं:

"जाफ़री साहब को अस्ल में विवादास्पद बातें बहुत पसन्द थीं। वे बुनियादी तौर पर कर्बलाई मिज़ाज के आदमी थे। उन्होंने शुरू से ही सभा-गोष्ठियों में वाद-विवाद का ज़िम्मा अपने नाम लिया है। यह और बात है कि उनका अपना पक्ष रखने का अंदाज़ बहुत आक्रामक होता है।

–('अली सरदार जाफ़री' संपादक अब्दुस्सत्तार दलवी, पृ. 69)

उनके लम्बे समय से साथी सैयद सिब्ते हसन लिखते हैं–

"उनको बहस-मुबाहिसे का भी बड़ा चस्का था। कॉलेज के ज़माने में उन्होंने कई वाद-विवाद प्रगतियोगिताएँ जीती थीं...अदब हो या सियासत या कोई और विषय कोई शख़्स उनसे बाज़ी नहीं ले जा सकता था।"

–(पूर्ववत् : पृष्ठ 69)

सिब्ते हसन ने इस सिलसिले में कई दिलचस्प प्रसंगों का उल्लेख किया है। यह सच है कि उनके स्वभाव की इसी तीक्ष्णता के कारण उनके कुछ निंदक और विरोधी भी पैदा हो गए थे। फिर भी इस सूरतेहाल का एक दूसरा पहलू भी है और वह यह कि वे अपने दूसरे समकालीनों की तरह मस्लेहत अंदेश नहीं थे। वे अपने सिद्धांतों से समझौते में यक़ीन नहीं रखते थे। वे अपने सुचिंतित विचारों की सच्चाई पर पूरा ईमान रखते थे। चाहे वे दूसरे के विचारों से मेल न खाते हों या उनका खंडन करते हों।

एक सच्चे विद्वान की बड़ाई इसमें है कि वह निजी लाभ-हानि की सतह से ऊँचा उठकर सोचे और अपने लेखन और वक्तव्यों में अपने विचारों को निर्भीकतापूर्वक प्रस्तुत करे। जाफ़री ने यही मार्ग अपनाया। डॉ. वहीद अख़्तर

ने एक आलेख में उनके व्यक्त्वि को आकार देने वाले तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए लिखा है–

"जाफ़री के मानस के निर्माण में शीयत, मार्क्सवाद, क्रांतिकारी रूमानियत, तात्कालिकता के साथ और भी तत्त्व सक्रिय रहे हैं...वे उन शाइरों में से हैं जिन्होंने एक शाइर को आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसे विद्वत् समाज में विश्वसनीय बनाया। ...जाफ़री ने अपनी दृढ़ प्रगतिशीलता के बावजूद हर दौर की समस्याओं को अपने सृजनात्मक अनुभव और अभिव्यक्ति से मेहरूम नहीं रखा। यही उनकी बड़ाई है और इसी में उनकी प्रासंकिता का राज़ छुपा हुआ है।"

–(पूर्ववत् : पृ. 186-187)

सरदार जाफ़री ने लिखा है कि उनकी आमदनी का ज़रिया उनका क़लम था। और यह तथ्य है कि लिखना-पढ़ना सारी ज़िंदगी उनका सबसे प्रिय व्यसन बना रहा। उन्होंने मीर तक़ी 'मीर', मिर्ज़ा ग़ालिब, कबीर और मीराँबाई के रचना-संचयन संपादित किए और उन्हें उर्दू तथा देवनागरी लिपियों में प्रकाशित कराया। इसके अलावा अनगिनत किताबों की भूमिकाएँ लिखीं। प्रो. रफ़िया शबनम आबिदी ने लिखा है जाफ़री ने तीन सौ से ज़्यादा साहित्य तथा विभिन्न विषयों पर निबंध लिखे। इनमें से कुछ अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में छपे, जैसे फ़ारसी का शाइर फ़िरदौसी, टैगोर और अफ़गानिस्तान से संबंधित निबंध। इनके अलावा 'नया अदब', गुफ़्तगू' और अन्य पत्रिकाओं में उनके संपादकीय और समीक्षालेख भी मिलते हैं। इसके साथ ही साथ रेडियो, टी. वी. और फ़िल्मों के लिए भी उन्होंने वार्ताएँ और पटकथाएँ लिखीं। उनका यह लेखन अभी पुरस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सका है।

जाफ़री के आत्मीय लोगों का बयान है कि वे बेहद स्वाभिमानी व्यक्ति थे। अक्सर आर्थिक संकट में घिरे रहते थे। लेकिन उन्होंने कभी किसी के सामने दस्ते सवाल दराज़ नहीं किया। न ही पैसा कमाने के लिए कोई ऐसा काम किया जो एक प्रगतिशील रचनाकार के रूप में उनके लक्ष्य के विपरीत हो। इस सिलसिले में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चाहे उन्होंने किसी आंदोलन की पक्षधरता में लिखा हो लेकिन अपने लेखन के स्तर को हमेशा क़ायम रखने की कोशिश की।

अनुवादों को छोड़कर जहाँ तक उनके मौलिक लेखन की बात है, उसे शाइरी और नस्र (गद्य) दो भागों में बाँटा सकता है–

शाइरी

1. पर्वाज़ (पहला कविता संग्रह) 1943
2. नई दुनिया को सलाम, 1948
3. ख़ून की लकीर (पर्वाज़ की चुनी हुई रचनाएँ शामिल) 1949
4. अम्न का सितारा (विश्वशांति आंदोलन पर लम्बी कविता) 1950
5. एशिया जाग उठा (लम्बी कविता) 1951
6. पत्थर की दीवार, 1953
7. एक ख़्वाब और, 1964
8. पैराहने-शरर, 1965
9. लहू पुकारता है, 1968
10. तरानाए-जम्हूर (सोवियत यूनियन के बारे में उनकी नज़्मों का संग्रह) 1978

गद्य कृतियाँ

1. मंज़िल (कहानियाँ) 1938
2. तीन मुख़्तसर ड्रामे, 1942
3. ये ख़ून किसका है? (ड्रामा) 1943
4. पैकार (ड्रामा) 1944
5. तरक़्क़ी पसंद अदब, 1955
6. लखनऊ की पाँच रातें (1965)
7. इक़बाल शनासी, 1969
8. पैग़ंबराने-सुख़न (1970)
9. तरक़्क़ी-पसंद तहरीक की निस्फ़ सदी, 1987
10. सरमाया-ए-सुख़न, 2000

आगे के पृष्ठों में इस पर बातचीत मिलेगी।

यह तथ्य है कि सरदार जाफ़री ने दूसरे प्रगतिशील लेखकों की तुलना में ज़्यादा सक्रिय ज़िंदगी गुज़ारी। इस दृष्टि से केवल सज्जाद ज़हीर से उनकी बराबरी हो सकती है लेकिन सज्ज़ाद ज़हीर चूँकि आख़िर तक कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य तथा उच्च पदाधिकारी रहे, इसलिए क्षमताओं के बावजूद 'लंदन की एक रात' उपन्यास और 'रौशनाई' (तरक़्क़ी पसंद तहरीक की यादें) के अलावा कोई यादगार कृति नहीं दे सके। जबकि सरदार जाफ़री 1965 के बाद आज़ादाना तौर पर

पढ़ने-लिखने के कामों में लग गए थे। इस क्षेत्र में उनकी सेवाओं को राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति मिली। 1967 में उन्हें 'पद्म श्री' से अलंकृत किया गया। इसके बाद ही 1969 में जवाहरलाल नेहरू फ़ैलोशिप प्रदान की गई जिसके तहत एक शोध-परियोजना के रूप में उन्होंने उर्दू की क्लासिकी शाइरी की शब्द-संपदा पर कार्य किया। 1965 में ही उन्हें उनके संग्रह 'एक ख़्वाब और' पर सोवियत लैंड नेहरू एवार्ड मिल चुका था। 1968 में उन्हें अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की।

इनके अलावा बीसवीं सदी अंत तक उन्हें जो राष्ट्रीय पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं :

1. उर्दू एकेडमी यू. पी. का मौलाना आज़ाद एवार्ड
2. उर्दू एकेडमी हैदराबाद का मख़्दूम एवार्ड
3. मध्यप्रदेश शासन का इक़बाल सम्मान
4. ज्ञानपीठ पुरस्कार
5. महाराष्ट्र उर्दू एकेडमी का संत ज्ञानेश्वर एवार्ड
6. हुकूमत बिहार का मज़हरुल हक़ एवार्ड
7. एकेडमी ऑफ़ लिटरेचर टोरंटो का इंटरनेशनल उर्दू एवार्ड

सरदार जाफ़री की श्रेष्ठ साहित्यिक सेवाओं की स्वीकृति के तौर पर बंबई, कश्मीर, इलाहाबाद, राँची आदि विश्वविद्यालयों में पी-एच. डी. के लिए शोधकार्य किए गए। 'अफ़्क़ार' कराची ने उनके योगदान का स्मरण करते हुए 1991 में एक वृहत् विशेषांक प्रकाशित किया।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग ने उनके योगदान पर एक सेमिनार आयोजित किया जिसमें पढ़े गए आलेखों को प्रोफ़ेसर असग़र अब्बास ने संपादित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया। सरदार जाफ़री के कारनामों की क़द्रशनास प्रो. रफ़िया शबनम आबादी ने 2002 में 'अली सरदार जाफ़री : एक मुतालिया' नाम से एक मूल्यवान समीक्षात्मक पुस्तक प्रकाशित की। हाजी गुलाम मुहम्मद आज़म एजुकेशन ट्रस्ट (पुणे) के आग्रह पर प्रोफ़ेसर अब्दुस्सत्तार दलवी ने उनकी समग्र सेवाओं पर एक पुस्तक संपादित की। बेदार बख़्त ने 'My Journey' के नाम से उनकी चुनी हुई नज़्मों का अंग्रेज़ी अनुवाद किया। इनके अलावा भी सरदार जाफ़री के व्यक्तित्त्व और कृतित्व पर भारत-पाक में अनगिनत काम होते रहे हैं। यह उसकी व्यापक लोकप्रियता का प्रमाण है। हाल ही में 'नेशनल काउंसिल फ़ॉर प्रोमोशन ऑफ़ उर्दू लैंग्वेज' ने उनकी शाइरी का कुल्लियात दो जिल्दों में

प्रकाशित किया है जिसका संपादन प्रोफ़ेसर अली अहमद फ़ातमी ने किया है।

सरदार जाफ़री गंभीर बीमारियों से ग्रस्त थे। उन्हें हृदयाघात पहले ही हो चुका था। आँतों में जलन बराबर बनी रहती थी। जिगर में भी समस्या बनी रहती थी। इन तामा बीमारियों के कष्टों के रहते हुए यह उनके व्यक्त्वि की दृढ़ निश्चात्मकता थी कि वे साहित्यिक गतिविधियों में व्यस्त रहा करते थे। वे मृत्यु से भयभीत नहीं रहते थे, सिर्फ़ इस अंदेशे से चिंतित रहते थे उनके बाद उनकी बेगम सुल्ताना जाफ़री अकेली रह जाएंगी। सुल्ताना के प्रति उनके आत्मिक लगाव का हाल यह है कि उनके पहले पति से उत्पन्न बेटी दुर्दाना को सरदार जाफ़री ने अपनी वास्तविक बेटी की भाँति पाला-पोसा और एक ऊँचे ख़ानदान में उसकी शादी की।

जीवन के अंतिम पड़ाव पर कैंसर के प्राणांतक रोग से ग्रस्त हो गए। वे बेबस हो गए। आख़िर 1 अगस्त, 2000 के दिन यह जुझारू और दीदावर शाइर और तरक़्क़ी पसंद दानिशवर चिरनिद्रा में लीन हो गया। लेकिन अपनी अलबेली ज़िंदगी के सफ़र के बारे में वह एक ऐसी कविता उर्दू को दे गया जो सदा ज़िंदा रहेगी। इसके ये बंद देखिए–

फिर एक दिन ऐसा आएगा
आँखों के दीए बुझ जाएँगे
हाथों के कँवल कुम्हलाएँगे
और बर्गे-ज़बाँ[1] से नत्क़ो-सदा[2]
की हर तितली उड़ जाएगी
इक काले समंदर की तह में
कलियों की तरह से खिलती हुई
फूलों की तरह से हँसती हुई
सारी शक्लें खो जाएँगी
ख़ूँ की गर्दिश दिल की धड़कन
सब रागनियाँ सो जाएँगी
और नीली फ़ज़ा की मख़मल पर
हँसती हुई हीरे की ये कनी
ये मेरी जन्नत मेरी ज़मीं

1. ज़बान (जिह्वा) के पत्ते, 2. वाणी, आवाज़

इसकी सुबहें, इसकी शामें
एक गुबारे-इनसाँ पर
शबनम की तरह से जाएँगी
हर चीज़ भुला दी जाएगी
यादों के हसीं बुतख़ाने से
फिर कोई नहीं यह पूछेगा
सरदार कहाँ है महफ़िल में
लेकिन मैं यहाँ फिर आऊँगा
बच्चों के दहन[1] से बोलूँगा
चिड़ियों की ज़ुबाँ से गाऊँगा
जब बीज हँसेंगे धरती में
और कोंपलें अपनी उँगली से
मिट्टी की तहों को छेड़ेंगी
सब पत्ती-पत्ती कली-कली
अपनी आँखें खोलूँगा।

1. मुख

सर्जनात्मक कौशल : शाइरी

विकास-यात्रा

(क) क्रांतिकारी सोच का आहंग

सरदार जाफ़री के सर्जनात्मक सरोकारों में शे'रगोई की महारत सबसे महत्त्वपूर्ण थी। लेकिन अपनी इस प्रकृतिदत्त कला को खोजने में उन्हें काफ़ी समय लगा। शाइरी और गद्य की अनेक विद्याओं में वे निरन्तर अभ्यास करते रहे। 'पर्वाज़' (1944 ई.) के प्रकाशन से पहले उनका 'मंज़िल' शीर्षक कहानी-संग्रह 1938 ई. प्रकाशित हो चुका था। इसके बाद ही उनके 'ये ख़ून किसका है?' जैसे नाटक सामने आए। इस अर्से में वे आलोचनात्मक लेख और 'नया अदब' के संपादकीय भी लिखते रहे। लेकिन 'पर्वाज़' के प्रकाशन के बाद न केवल साहित्य मर्मज्ञों बल्कि स्वयं सरदार जाफ़री को भी यह लगा कि शाइरी ही उनकी अभिव्यक्ति का सबसे अनुकूल और उपयुक्त माध्यम है। इसमें उनकी अपनी आवाज़ रोशन है और इसी कैनवस पर उनकी निजता ज़्यादा स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आ सकती है।

'पर्वाज़' की भूमिका में उस युग के प्रतिष्ठित समालोचक मजनूँ गोरखपुरी लिखते हैं—

" 'मंज़िल' के पढ़ने वाले जानते हैं कि अली सरदार जाफ़री अफ़साने भी लिखते हैं, तमसील निगारी के मैदान में भी वह नज़र आते हैं, उनका क़लम आलोचना की जुंबिश भी दिखला रहा है, मगर मेरी निगाह में शाइर और आलोचक के रूप में सरदार जाफ़री का मर्तबा सबसे ज़्यादा स्थायी और मज़बूत है। उन्होंने अपने लहजे और अंदाज़ से नई शाइरी में ओजस्विता और गंभीरता पैदा करके इस क़ाबिल बना दिया है कि आँखें मिला सके।"

—*(कुल्लियाते जाफ़री—भाग 1, पृ. 38)*

सिर्फ़ इतना ही नहीं मजनूँ गोरखपुरी ने इस भूमिका में यह भविष्यवाणी भी की थी कि 'अगर जाफ़री अपनी शाइरी में कुछ और व्यापकता व गहराई पैदा कर लें, अगर यह ज़िंदगी के समग्र यथार्थ को अपने शे'रों में ज़्यादा जगह देने लगें, अगर वह अपने लहजे और शैली में इससे भी ज़्यादा नर्मी और तासीर पैदा कर सकें जिसकी आगे चलकर हमको उनसे क़तई उम्मीद है तो वह उर्दू शाइरी में एक ऐसी जगह ले सकते हैं जो अभी ख़ाली है।"

ऐसा लगता है कि मजनूँ गोरखपुरी की यह सशर्त भविष्यवाणी कम अज़ कम छः-सात साल के अर्से तक एक आज़माइश या DILEMMA बनी रही और सरदार जाफ़री एक कशमकश से दो-चार रहे।

बक़ौल मिर्ज़ा ग़ालिब :

ईमाँ मुझे रोके है जो खींचे है मुझे कुफ़्र
काबा मिरे पीछे है कलीसा मेरे आगे

दरअसल 1940 से 1950 तक के पूरे दशक को उर्दू में प्रगतिशील साहित्यांदोलन के चरमोत्कर्ष का दौर या स्वर्णयुग कहा जा सकता है। सरदार जाफ़री इस आंदोलन के अगुआ लोगों और सिद्धांतकारों में से थे और चूँकि वह वैचारिक और सांगठनिक दृष्टि से बहुत सक्रिय थे, अच्छे वक्ता थे और विचारों को तर्क-संगत ढंग से पेश करते थे, इसलिए प्रगतिशील लेखक संघ के जलसों और संगोष्ठियों में हाज़िरीन को प्रभावित कर देते थे। दूसरी ओर इस वास्तविकता के बावजूद कि इस आंदोलन का चरित्र एक साझा मोर्चा का था, इसमें कांग्रेसी और सोशलिस्ट भी शामिल थे, इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि इसके नेतृत्व की बागडोर कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में थी और उसकी कोशिश थी कि प्रगतिशील लेखकों की सरगर्मियों में उसके वैचारिक एजेंडे को प्राथमिकता मिले। अली सरदार जाफ़री ने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन किया था, उससे ज़्यादा अहम यह कि वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और उसकी नीतियों को समझते और मानते थे। प्रगतिशील साहित्य के हवाले से भी उनके व्याख्या-विश्लेषण का अंदाज़ मार्क्सवादी था और जब वे समकालीन प्रगतिशील रचनाओं का जायज़ा लेते थे तो उसमें एक तरह की सैद्धांतिक आग्रहशीलता उभर आती थी, इसलिए स्वाभाविक रूप से अपनी रचनाओं में भी उस दौर की सिक्काबंद प्रगतिशीलता को बरतने की कोशिश करते थे। मजनूँ गोरखपुरी ने बाहैसियत शाइर उनके विकास को लेकर भविष्यवाणी करते हुए ज़िंदगी के समग्र यथार्थ को सामने रखने, सोच

में व्यापकता व गहराई लाने और अपनी काव्य-शैली में नर्मी व तासीर पैदा करने की जो शर्तें रखी थीं, सरदार जाफ़री इनकी सार्थकता को भली-भाँति समझते थे और आहिस्ता-आहिस्ता शे'री लहजे में मुनासिब तब्दीली लाने की कोशिश भी कर रहे थे लेकिन यह प्रक्रिया बहुत मंद थी, कारण यह है कि प्रगतिशीलता के ध्येय के प्रति उनका कमिटमेंट उन्हें दूसरी तरफ़ खींचता था। यही वजह है कि 'पर्वाज़' संग्रह की अधिकांश नज़्मों में वे 'जोश' मलीहाबादी की ओजपूर्ण काव्यशैली के निकट पहुँच जाते हैं। ऐसा नहीं कि शाइरी में वे क्लासिकी परंपरा से विमुख रहे हों या शब्द प्रयोग में वे क्लासिकी रचाव और संयोजन से काम न लेते हों, लेकिन प्रगतिशील काव्य-शैली के निर्माण के लिए वे जिस तरह सामयिक समस्याओं को रचना-विषय बनाते थे और आशावाद के भावनात्मक वातावरण की पृष्ठभूमि में नज़्म को आकार देते थे, ऐसे में अपने लहजे में वह नर्मी और मार्मिकता पैदा करना संभव नहीं था जिसकी मजनूँ गोरखपुरी ने अपेक्षा की थी।

'पर्वाज़' संग्रह में एक 'तरक़्क़ी पसंद मुसन्निफ़ीन' शीर्षक नज़्म शामिल है। इसमें भी वे प्रगतिशील कलाकार के दायित्वों पर इस तरह रोशनी डालते हैं :

आग महफ़िल में ग़ुलामों की लगा दें ऐ दोस्त
दिल की बुझती हुई शम्ओं को फ़रोज़ाँ[1] कर दें
काबा-ओ-दैरो-कलीसा की बुझा दें क़ंदील
हर तरफ़ मशरिक़ो-मग़रिब[2] में चराग़ाँ कर दें
डाल दें वक़्त की अफ़्सुर्दा[3] निगाहों को निगाह
अहदे-पारीना को एक ख़्वाबे-परीशाँ कर दें
खोल दें सबके लिए क़ुफ़्ले-दरे-मैख़ाना[4]
हज़रते जोश को सर हल्क़ए-रिंदाँ कर दें

और यह एक तथ्य है कि जहाँ तक बीसवीं सदी के पाँचवें दशक की एक सामान्य काव्यशैली है उसमें 'जोश' के प्रतिरोधात्मक लहजे और उच्च स्वरों से युक्त शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

इस वर्ग में सिर्फ़ सरदार जाफ़री ही नहीं असरारुल हक़ मजाज़, मख़्दूम, कैफ़ी आज़मी, अली जव्वाद ज़ैदी और अन्य युवा शाइर भी शामिल थे। अगरचे बाद में उन्होंने 'जोश' के प्रभाव से मुक्त होने के लिए सचेत रूप से प्रयास किए। पर सच्चाई यह है कि 1936 ई. के बाद एक वैचारिक आंदोलन से प्रभावित होकर

1. रोशन, 2. पूर्व और पश्चिम, 3. निराश, उदास, 4. मैख़ाने के दरवाज़े के ताले

उपनिवेशवादी ग़ुलामी से आज़ादी, रूढ़िवादिता के प्रेत से मुक्ति, वर्ग-संघर्ष में मेहनतकश वर्ग की पक्षधरता और नारी-स्वातंत्र्य की लड़ाई में शिरकत का जो संकल्प इन शाइरों ने लिया था और जिस तरह साहित्य ने प्रतिरोध का रास्ता अपना लिया था, इस पर क़दम बढ़ाने के लिए शुरू में 'जोश' के अलावा कोई दूसरा शाइर उनका सहारा नहीं बन सकता था। 'जोश' को उन्होंने एक मॉडल रचनाकार के रूप में नहीं अपनाया था बल्कि वे 'जोश' की काव्य-शैली से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को और ज़्यादा धारदार बनाना चाहते थे। इस प्रभाव-ग्रहण की एक वजह यह भी थी कि अल्लामा इक़बाल की तुलना में 'जोश' जिस प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक तब्दीलियों के पक्षधर थे, वे उन्हें प्रगतिशीलता के मूल प्रायोजन के बहुत निकट ले आती थीं। यह सच है कि प्रगतिशील शाइरों में से बेशतर जागीरदारी व्यवस्था की पृष्ठभूमि से आए थे, अगर इससे अलग होने और निजात पाकर दबे-कुचले भारतीय अवाम के जीवन से अपने सोच और सर्जनात्मक रवैयों को जोड़ने की कोशिश ज़रूर की। जबकि 'जोश' के यहाँ ऐसी किसी कोशिश का सुराग़ नहीं मिलता। इसके विपरीत 'जोश' ने शोषित-पीड़ित मज़दूर-किसानों और सामाजिक रूप से उपेक्षित स्त्रियों का महिमा-मंडन किया और इनके प्रति उनका रवैया एक सरपरस्त जैसा ही बना रहा।

'पर्वाज़' में शामिल सरदार जाफ़री की उन नज़्मों में भी जहाँ जोश की शैली का प्रभाव झलकता है, एक नई पहचान के चिह्न उजागर दिखाई देते हैं। कारण यह है कि उनके सर्जनात्मक सरोकार, इतिहास-चेतना और सामाजिक बोध निस्संदेह रूप से मार्क्सवाद की देन हैं। उनके यहाँ दूसरे शाइरों की तरह विद्रोह की कोई रूमानी-भाववादी और अवैज्ञानिक कल्पना नहीं है। यही वह मोड़ है जहाँ से सरदार जाफ़री 'जोश' और इक़बाल दोनों से फ़ासला बनाते हैं और पहले की तुलना में ज़्यादा यथार्थवादी ढंग से अपनी आवाज़ को पाने का जतन करते हैं।

आइए जाफ़री की कुछ नज़्मों के हवाले से हम इस रवैये पर नज़र डालें। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू होने के बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक बयान में कहा था कि वे फ्रांस और ब्रिटेन की संस्कृति का विनाश बर्दाशत नहीं कर सकते। यह रवैया बेशक मानवमैत्री की व्यापक कल्पना के अनुरूप था। सरदार जाफ़री पंडित नेहरू के प्रति श्रद्धा के बावजूद अपनी एक नज़्म 'जवाहर लाल नेहरू के नाम' में इस रवैए के ख़िलाफ़ विरोध जताते हैं--

ध्यान मुझको भी है योरुप की तबाही का मगर
तुमको अपनी भी तबाही की ख़बर है कि नहीं
कितना गुलरंग है इंग्लैंड की तहज़ीब का नाम
उसमें कुछ हिंद का भी ख़ूने-जिगर है कि नहीं
राख का ढेर है बुझते हुए अंगारों में
तेरी उठते हुए शोले पे नज़र है कि नहीं

यूरोप की सामराजी ताक़तों ने जिस तरह ग़रीब देशों पर आधिपत्य जमाया, उन्हें गुलाम बनाया और फिर पूर्व सोवियत यूनियन ने उन्हें उपनिवेशवाद के चंगुल से निजात दिलाने के प्रयास किए; ये सब बातें शाइर के विज़न का केंद्र बिंदु बन जाती हैं। यही चिंतनशैली संग्रह की अन्य नज़्मों मसलन 'इर्तिक़ा और इनक़िलाब', 'तारीख़ और जंग' और 'इनक़िलाब' में नुमायाँ नज़र आती हैं। यहाँ इस वास्तविकता को ध्यान में रखना चाहिए कि इस संग्रह के प्रकाशन के समय शाइर की उम्र सिर्फ़ तीस वर्ष की थी लेकिन जो नज़्में इस संग्रह में शामिल हैं उनमें आश्चर्यजनक पुख़्तगी, अभिव्यक्तिक्षमता और ताज़ाकार शे'रियत का एहसास होता है।

यूरोप के बड़े देशों पर जब नाज़ी जर्मनी के हमलों और फ़तहों का सिलसिला शुरू हुआ तो तीसरी दुनिया के लोगों में यह उम्मीद जागी कि शायद साम्राज्यवादी ताक़तों की पराजय उनकी आज़ादी का कारण बन जाए। शाइर के दिल में यह ख़याल भी है कि जिस तरह पहले विश्वयुद्ध के अंत में रूस में शहनशाही निज़ाम का ख़ात्मा हुआ और 1917 की समाजवादी क्रांति हुई, उसी तरह दूसरा विश्व युद्ध भी कुछ राष्ट्रों में क्रांति का वातावरण तैयार कर सकता है। यह नज़्म तात्कालिकता के बावजूद काव्य-सौंदर्य से परिपूर्ण है—

रक़्स कर ऐ रूहे-आज़ादी कि रक्साँ है हयात
घूमती है वक़्त के महवर[1] पे सारी कायनात
उड़ रहा है ज़ुल्मो-इस्तबदाद[2] के चेहरे से रंग
छुट रहा है वक़्त की तलवार के माथे से ज़ंग
हिल चुका है तख़्ते शाही गिर चला है सर से ताज
हर क़दम पर डगमगाया जा रहा है सामराज

1. धुरी, 2. अत्याचार और क्रूरता

ढल रही है ज़रगरी की रात के तारों की छाँव
मुफ़लिसी फैला रही है वक़्त की चादर में पाँव

ग़ौर तलब बात यह है कि नज़्म सामयिक परिस्थितियों पर आधारित है इसके बावजूद इसमें मानव-मुक्ति की कामना को बहुत सुंदर अभिव्यक्ति मिली है। कमोबेश पूरी नज़्म में शाइर का तर्ज़े-बयान सपाट होने के बजाय सांकेतिक और प्रतीकात्मक रहा है। वक़्त के महवर (धुरी) पर कायनात का गर्दिश करना, ज़ुल्म और जब्र के चेहरे पर रंग उड़ना, वक़्त की तलवार के माथे से ज़ंग का उड़ना, तीसरे शे'र में जंग की तबाही ने सामराज को इतना दुर्बल कर दिया है कि वह डगमगा कर चल रहा है और चौथे शे'र में सरमायादारी की तुलना रात से करते हुए शाइर उसके तारों की छाँव के ढलने (सुबह होने) का उदात्त बिम्ब प्रस्तुत करता है। आख़िरी मिसरे में वक़्त की चादर में मुफ़लिसी के पाँव फैलाने का मुहावरा आता है। इस मुहावरे के माध्यम से दीन-दुखी लोगों के अच्छे दिन आने की भविष्यवाणी की गई है।

कुछ यही कैफ़ीयत संग्रह की अन्य महत्त्वपूर्ण नज़्मों 'क़ब्ल तारीख़ के इन्सान का ज़हनी तजज़िया' और 'बंगाल' में साफ़ नज़र आती है। बेशक आरंभिक दौर की कुछ नज़्मों मसलन 'जवानी और समाज' और 'बग़ावत' में भी 'जोश' की कहन का अक्स मिलता है लेकिन साथ ही यह महसूस होता है कि सरदार जाफ़री इस असर से बाहर निकलने का प्रयास कर रहे हैं।

अपने युग के शाइरों में सरदार जाफ़री की जो छवि उभरती है और जिसे उभारने में खुद प्रगतिशील आलोचकों की भूमिका रही है, वह एक क्रांतिकारी और अवामी शाइर की छवि है। यहाँ तक कि सैयद एहतिशाम हुसैन ने अपने लेख 'जाफ़री : अरमान से इनक़िलाब तक' में उनकी शाइरी के क्रांतिकारी चरित्र में ही अरमान (अभिलाषा) के तत्त्व को तलाश किया है। शायद यह प्रगतिशील साहित्य के रूप-रंग को निखारने के लिए ज़रूरी था। लेकिन किसी यथार्थवादी शाइर के उत्प्रेरक रचना-विषय किसी बाह्य आंदोलन की अपेक्षाओं के मुहताज नहीं होते। प्रेम-प्रसंग, स्त्री और प्रकृति का अक्षय सौन्दर्य, रूमान अंगेज़ घटनाएँ और जीवन के अन्य संदर्भ रचनाकार के बोध का हिस्सा बनकर उसके अनुभव परिसर को विस्तार देते हैं। दुनिया के बड़े चिंतकों और प्रगतिशील कवियों मसलन पाब्लो नेरूदा, दॉस्तोवस्की और फ़ैज़ के कलाम में ऐसी महान रचनाएँ मिलती हैं जो सामाजिक और क्रांतिकारी विषयों से हटकर उनके प्रेम प्रसंगों और नितांत वैयक्तिक अनुभवों को बड़े रचनात्मक कौशल के साथ सामने लाती हैं। सरदार

जाफ़री की चंद लम्बी राजनीतिक और अर्द्ध क्रांतिकारी कविताओं को छोड़कर उनके हर प्रतिनिधि संग्रह में निजी संवेदनों और अनुभवों को मार्मिक अभिव्यक्ति देने वाली रचनाएँ मिल जाएँगी। इसका ज़िक्र इसलिए किया गया कि सामान्यतः जाफ़री की शाइरी के इस पक्ष को अनदेखा किया गया है।

'पर्वाज़' की नज़्मों पर नज़र डालिए तो इसमें भी 'अंगड़ाई' 'इंतिज़ार न कर', 'हुस्ने सोगवार', 'एतिराफ़', 'तग़य्युर', 'साले-नो' और 'वीरान मनाज़िर' के अलावा जेलों की सख़्त क़ैद में कही गई बहुत-सी ऐसी नज़्में मिलती हैं जिनमें युवावस्था के प्रेम की स्मृतियाँ और प्रेम की एक पवित्र कल्पना विद्यमान है।

अपनी 'आपबीती' में जाफ़री ने लिखा है कि किशोरावस्था में एक पत्रिका में रूस की क्रांति का ज़िक्र और इक़बाल की 'ख़िज्रे राह' नज़्म पढ़कर अपने ख़्वाबों की नई दुनिया तामीर करना शुरू कर दी थी। इसी ज़माने में ख़ानदान की एक ख़ूबसूरत लड़की से उनका भावनात्मक संबंध जुड़ गया था–

"माँ-बाप मेरी हालत पर कुढ़ते थे और बहनें मुझे हैरत से देखती थीं। एक रिश्ते की बहन थी उसकी आँखों में हैरत से ज़्यादा पसंदीदगी की चमक थी और यह चमक मुझे इस पर आमादा करती थी कि मैं उसके सामने अपनी भावनाएँ खोलकर रख दूँ। मैं उससे हमेशा ग़रीबी-अमीरी और न्याय-अन्याय की बातें करता रहता था लेकिन कुछ अर्से बाद मालूम हुआ कि हमारे दरमियान कुछ नाज़ुक और लतीफ़ रिश्ते पैदा हो गए हैं और मेरे दिल में एक नूर-सा बिखर गया।"

(अली सरदार जाफ़री नम्बर 'अफ़कार', कराची, पृ. 647)

जाफ़री ने लिखा है कि बाद में जब मेरी शादी की बात चली तो मैंने माँ-बाप के सामने उसी लड़की का नाम रखा। लेकिन लड़की के माँ-बाप ने मेरी आवारगी का वास्ता देकर इंकार कर दिया। इसके बाद लखनऊ में 1939 में सुल्ताना मिनहाज से उनका रोमान शुरू हुआ। वे उस ज़माने में कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। सुल्ताना से अपनी मुलाक़ात का ज़िक्र करते हुए जाफ़री लिखते हैं–

"हम एक कॉफ़ी हाउस में मिले। उसका नाम सुल्ताना था। पहली ही मुलाक़ात में वह मुझे बहुत अच्छी, बड़ी भली-सी। हम अक्सर मिलने लगे और पहरों बातचीत में डूबे रहते। एक रोज़ मैंने उसके हुस्न की तारीफ़ करते हुए कहा, 'आप तो बिल्कुल वीनस डी मेलो लगती हैं।' इस बात को क़रीब एक महीना गुज़रा होगा कि उस लड़की ने एक रोज़ मुझे वीनस डी मेलो का मुजस्सिमा तोहफ़े के तौर पर पेश किया जिसे मैंने यह कह कर ले लिया कि–खिलौने देके

बहलाया गया हूँ।"

(–गोशा-ए-जाफ़री, 'किताबनुमा', नई दिल्ली पृ. 59)

सुल्ताना जाफ़री ने एक लेख में लिखा है कि दोस्ती और रफ़ाक़त का यह रिश्ता तक़रीबन नौ साल जारी रहा। वे रेडियो की मुलाज़िमत अख़्तियार करके लाहौर चली गईं और जाफ़री बंबई आ गए। बाद में सुल्ताना भी बंबई पहुँच गईं। लिखती हैं, 'चूँकि हम दोनों के स्वभाव में बहुत-सी बातें साझा थीं इसलिए एक-दूसरे से नज़दीकी भी ज़्यादा थी। इस नज़दीकी का नतीजा यह निकला कि जनवरी 1948 में हमने शादी कर ली।'

सरदार जाफ़री ने सुल्ताना के प्रेम और आत्मिक लगाव के हवाले से कई ख़ूबसूरत नज़्में लिखीं

'पर्वाज़' में शामिल 1942 से 1944 तक की प्रेम कविताएँ उस दौर के विछोह की यादगार हैं जब सुल्ताना लाहौर चली गई थीं और जाफ़री बंबई पहुँच गए थे और यह उनके क्रांतिकारी सोच की पुख़्तगी का ज़माना था। इस वैचारिक संबद्धता ने औरत और वैवाहिक संबंध को लेकर उनके दृष्टिकोण को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि उदात्त प्रेम की गरिमा का एहसास भी कराया, एक नज़्म 'मुहब्बत का फ़ुसूँ' में लिखते हैं :

शौक़ नाकाम सही फिर भी मुहब्बत का फ़ुसूँ[1]
ज़ुल्फ़ बर दोशी[2]-जुनूँ ख़ेज़ो-जवाँ[3] है ऐ दोस्त
जुरअतो-शौक़ की जिस राह से हम गुज़रे हैं
उसका जो ज़र्रा है वो काहकशाँ[4] है ऐ दोस्त
सीना-ए-बहर[5] से उठते हुए तूफ़ानों पर
तेरी खिलती हुई ज़ुल्फ़ों का गुमाँ है ऐ दोस्त।

इसी ज़माने की एक दूसरी नज़्म में स्त्री के सौंदर्य की चमत्कारपूर्ण छटा को इस तरह चित्रित किया है :

तिरा नुज़ूल जो होता सवादे-गुलशन में
निहाल फ़स्ले बहाराँ का इक समर होती
अगर हवाओं के आग़ोश में जगह पाती
तो रक़्स शोला-ओ-बेबाकी-ए-शरर होती

1. जादू, 2. कंधों पर बाल फैलाये हुए, 3. उन्माद में डूबा हुआ और जवान, 4. आकाश गंगा, 5. समुद्र का वक्ष

ज़मीं पे टूट के गिरती न आस्माँ से अगर
नदीम चाँद की, तारों की हम सफ़र होती

इसी ज़माने की एक और नज़्म 'हुस्न सोगवार' है। नज़्म का फ़ॉर्म हालाँकि मस्नवी का है लेकिन शाइर ने जिन नर्म और नाज़ुक रंगों में स्त्री-देह का सौंदर्य चित्रण किया है, वह इसी दौर की राजनीतिक क्रांतिकारी कविताओं के मूल स्वर से बहुत भिन्न है। यही लालित्यपूर्ण कथन-भंगिमा 'एक ख़्वाब और' तथा बाद के दूसरे संग्रह की रचनाओं में और ज़्यादा परिमार्जित रूप में प्राप्त होती है। कुछ शे'रों में उपमाओं और प्रतीकों के प्रयोग का कौशल देखिए—

क्या कहूँ क्या है वो हुस्ने-सोगवार[1]
जिसको नज़रें दूर से करती हैं प्यार
ख़ालो-ख़त में रस, निगाहों में शराब
हल्की-हल्की साँस में रूहे-शबाब
पँखड़ियों में ख़्वाबो-बेदारी[2] लिये
ज़ुल्फ़ के हर ख़म में दिलदारी-लिये
होके चुप जब बैठ जाती है कभी
ख़ामुशी से फूटती है रागनी
फिर भी रुख़ पर है उदासी का ग़ुबार
जिस तरह फूलों से शबनम की फुवार
हँसते-हँसते जैसे खो जाती है वो
बात करते-करते सो जाती है वो
रोते-रोते मुस्कुरा देती है फिर
दिल में शम्में-सी जला देती है फिर

सरदार जाफ़री की युवावस्था की यादगार प्रेम कविताएँ और भी हैं। यहाँ मैं शुरूआती दौर की दो नज़्मों का ज़िक्र ज़रूर करूँगा। वे हैं 'ख़ैरमक़दम' और 'सरे राह'। दोनों रचनाओं में प्रेमिका के अंग-प्रत्यंगों का सौंदर्य निरूपण है और इनकी समग्र अभिव्यक्ति में रिवायती अंदाज़ की गहरी छाप है। इसके बावजूद इनके सौंदर्य-वर्णन में जो सुंदरता है, लहजे में शालीनता है और बंदिशों में ताज़गी

1. ग़मगीन हुस्न
2. स्वप्न और जागरण

है, वह मस्नवियों के शिख-नख वर्णन से अलग है और कई समकालीन शाइरों की इश्क़िया शाइरी से भी इनका कोई मेल नहीं हैं। इसका कारण यही है कि इन रचनाओं के पीछे जो व्यक्तित्व छुपा है, उसे मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि और क्रांतिकारी जद्दोजहद ने बहुत तहदार और गंभीर बना दिया है। जिससे उसकी सर्जनात्मक दृष्टि हर अनुभव की अभिव्यक्ति में नए आयाम तलाश कर लेती है।

'सरे राह' से सिर्फ़ तीन शे'र देखिए :

इक लरज़िश-सी है क़ामत में, इक शोला-सा थर्राता है
हर गाम पे उश्वे रक़्साँ[1] हैं उश्वों से अदाएँ लिपटी हैं
मशरिक़ से निकलते सूरज का होता है गुमाँ पेशानी पर
उस ताबिशे-रुख़[2] का क्या कहना आँचल से शुआएँ[3] लिपटी हैं
ये जिस्म की ख़ुशबू है कि महक बेले की चटकती कलियों की
पैराहने-रंग़ी से शायद जन्नत की हवाएँ लिपटी हैं।

शाइर ने यहाँ जिस शब्द-योजना और प्रतीक-विधान के माध्यम से नवयौवन का सौंदर्य-चित्रण किया है और इसके बीच से जो आकृति उभरती है वह उर्दू के आम रिवायती माशूक़ से अलग और अनोखी है। इस तरह शाइर का यह रागात्मक अनुभव एक सौन्दर्यात्मक इकाई में ढल कर नज़्म का रूप ले लेता है। पूर्व दिशा से निकलता सूरज नवयुवती के पौर्वात्य सौन्दर्य को संकेतित करता है।

'ख़ैर मक़दम' में शाइर ने यौवनारंभ के एक सम्मोहनकारी अनुभव को अभिव्यक्ति दी है। शाइर जिस दिलरुबा महबूब की जुदाई में व्याकुल है, वह अचानक आ जाता है। यह कोई काल्पनिक नहीं, वास्तविक अनुभव है जो शाइर के सृजनात्मक मानस को बेनाम ख़ुशबुओं से भर देता है। सिर्फ़ चंद अशआर देखिए—

मुबारक हो कि वो ग़म ख़्वार जाने-बेक़रार आया
सवादे-लखनऊ[4] में आहू-ए-दश्ते-ततार[5] आया
निगारे-नो बहार-ओ-नो बहारे-गुल अज़ार[6] आया

1. नृत्य में लीन नाज़-नख़रे, 2. मुख की आभा, 3. किरणें, 4. लखनऊ का परिवेश, आस-पास, 5. तातार मुल्क के जंगल का हिरण, 6. फूल जैसे कपोल।

चमन है रंगे-सामाँ, रंगे-सामाने-बहार आया
दिले बेताब की तस्कीन को पहले ख़बर आई
बड़ी मुद्दत के बाद आख़िर वो जाने-इंतिज़ार आया
अदा की बर्क़ चमकी, ज़ुल्फ़े पैचाँ की घटा बरसी
अवध के मैकदे की सिम्त अब्रे कोहसार आया

इसी तरह पूरी नज़्म में प्रिय के आगमन को रूपकों की शृंखला के माध्यम से संकेतित किया गया है।

यहाँ न उपदेशात्मक आवेग है और न ओजपूर्ण स्वर हैं, शाइर नर्मी और सादगी से जो तस्वीर खींचता है, हम उसमें तल्लीन हो जाते हैं।

प्रसंगवश सरदार जाफ़री की एक अन्य महत्त्वपूर्ण नज़्म 'खुशी' का ज़िक्र ज़रूरी लगता है जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति उस युग की दूसरी नज़्मों से भिन्नता लिए हुए है। यह रचना अपने शीर्षक से अलग हटकर प्रतीकात्मक किरदार रखती है। शाइर नज़्म के पहले बंद में ही अजंता की विस्मयकारी गुफाओं से निकलने वाली एक ऐसी तरुणी के अनुपम सौन्दर्य का ज़िक्र करता है जिसकी तलाश में इन्सान अनादिकाल से भटक रहा है।

अजंता के पुराने और पुर इसरार ग़ारों से
अँधेरी रात में अक्सर वो दोशीज़ा निकलती है
मसीहो-ख़िज्रो[1] *गौतम को रही है जुस्तजू जिसकी*
ज़माने ने हजारों साल की है आरज़ू जिसकी
जबीं पे जिसकी सुब्हे- नो की ताबानी[2] *मचलती है*
अज़ल की ताबिशे-सीमीं है हाला उसके चेहरे का
कफ़े-दस्ते-हिनाई[3] *पर अब्र की शम्अ जलती है*

शाइर ने नज़्म का शीर्षक 'खुशी' रखा है इसलिए इसकी शैली प्रतीकात्मक से ज़्यादा रूपकात्मक है। यानी 'दोशीज़ा' के रूप में 'खुशी' को मूर्त किया गया है। जिसकी इन्सान सृष्टि के आरम्भ से अभिलाषा करता रहा है और उसे पाने के अथक प्रयास भी। दुःख-दर्द और अभवों के अभिशाप से निजात दिलाने का स्वप्न पैग़ंबरों ने भी दिखाया है। एक ऐसी अल्पकालिक नई सुबह की झलक

1. ख़िज्र एक पैग़ंबर का नाम है जिनके बारे में मशहूर है कि उन्होंने आबे-हयात पिया था।
2. लालिमा
3. मेंहदी रचे हाथ

भी इन्सान देखता आया है जो उसे रात के घनघोर अँधेरों से निकालकर बाहर ले आये। इसके बाद शाइर रूमान अंगेज़ रूपकों के सहारे नज़्म को आकार देता है। आख़िरी दो मिसरों में वह उसे मृगजल की भाँति अलभ्य ठहराता है। हैरत होती है कि यह 1944 की नज़्म है, जब जाफ़री बंबई में कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक सदस्य थे। मगर 'सुबहे नो' किसी क्रांति या सोशलिज़्म का प्रतीक नहीं बनती। इसके विपरीत प्रच्छन्न रूप से यह मनुष्य के आशावाद को प्रतीकित करती है, वह आशावाद जो मनुष्य के दुःखों से मुक्ति दिलाकर उसके दामन को अनदेखी खुशियों से भर दे। यह नज़्म उस युग की प्रगतिशील शाइरी की परिपाटी से बिल्कुल अलग है। इसका उत्प्रेरक क्या था? यह कहना मुश्किल है। सिवाय इसके कि सरदार जाफ़री ने 'हल्क़ाए-अर्बाब-ए ज़ौक़' के अंदाज़ पर यह नज़्म कहकर साबित किया हो कि इस रचना-शैली पर भी उनका अधिकार है।

(ख) लम्बी नज़्में

सरदार जाफ़री ने अपने कई संग्रहों और नज़्मों की भूमिकाओं में अपनी शे'रगोई से संबंधित मान्यताओं को प्रस्तुत किया है। 'पर्वाज़' के बाद अपनी नज़्मनिगारी में उन्होंने जो प्रयोग किए, उन्हें समझने के लिए निम्नांकित वक्तव्यों पर दृष्टिपात करना होगा:

(क) "मैं अपने मक़सद को हासिल करने के लिए मुख़्तलिफ़ किस्म और मुख़्तलिफ सतह की शाइरी करता हूँ। मेरी तमामतर कोशिश यह है कि ज़्यादा-से-ज़्यादा आदमियों के लिए अपनी शाइरी को आसान बना सकूँ। इस कोशिश में उन हदों को तोड़ देना चाहता हूँ जो बोलचाल की ज़बान और शाइराना ज़बान के बीच खड़ी हुई हैं।

(ख) चूँकि मैं शाइरी को बुनियादी तौर पर पर गाने या बुलंद आवाज़ से पढ़कर सुनाने की चीज़ समझता हूँ और उससे चेतना को जाग्रत करने और जज़्बात को उभारने का काम लेता हूँ, इसलिए मैंने अपनी आज़ाद नज़्मों में भी यह कोशिश की है कि वे महज़ काग़ज़ पर पढ़ने की चीज़ें बनकर न रह जाएँ।"

(ग) पाबंद नज़्म में ज़्यादातर मिसरों ओर शे'रों के गठन पर ज़ोर दिया जाता है लेकिन मैं इसके बरअक्स आज़ाद नज़्म में अलग-अलग मिसरों के बजाय बंदों के गठन को अहम समझता हूँ। चूँकि आज़ाद

नज़्म में रदीफ़ और क़ाफ़िए की झनकार नहीं होती इसलिए इसमें आंतरिक संगीत का जादू बहुत ज़रूरी है...जो शब्द-चयन के अलावा मिसरों के आपसी रब्त से भी पैदा होता है।

1950 तक 'पर्वाज़' के बाद सरदार जाफ़री की जो नज़्में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई, वे इस प्रकार हैं

1. नई दुनिया को सलाम, 1946
2. जम्हूर, 1946
3. ख़ून की लकीर, 1949
4. अम्न का सितारा (तीन तवील नज़्में), 1950

उपर्युक्त वक्तव्यों की रोशनी में सरदार जाफ़री की तवील या अपेक्षाकृत तवील नज़्मों की प्रेरक स्थितियों का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। दरअसल ये नज़्में एक ओर पाश्चात्य या अंग्रेज़ी काव्य की लंबी कविता की धारणा से मेल नहीं खातीं। दूसरी ओर ये उर्दू की क्लासिकी शाइरी की तवील नज़्मों मसलन मस्नवी, क़सीदा, शहरे-आशोब से भी संगति नहीं रखतीं जिनका एक निश्चित फ़ॉर्म होता है और अक्सर जो किसी क़िस्से या विषय तक सीमित होती हैं। मौलाना हाली और अल्लामा इक़बाल की कुछ नज़्में अलबत्ता तवील नज़्म की एक उज्ज्वल और नई परिकल्पना पेश करती हैं। सोवियत दौर के एक अहम लिथोनियाई कवि Marcenkevius ने लम्बी कविता की संभावनाओं पर विचार करते हुए लिखा है–

''लम्बी कविता में मनुष्य के संघर्षशील चरित्र की विद्यमानता होती है। इसमें दुनिया को नए ढंग से बनाने की क्रिया भी झलकती है। बेशक आज की दुनिया बड़ी पेचीदा, अस्त-व्यस्त, विसंगतिपूर्ण और त्वरित गति से परिवर्तनशील है। मनुष्य के पास अपनी दुनिया के बारे में जानने के लिए ज्ञान का जितना बड़ा भंडार है, इस ज्ञान को एक कविता के कलेवर में समाहित करना उतना ही कठिन है...लंबी कविता सामाजिक ज़िंदगी और सोच के एक ख़ास स्टेज को समावेशी रूप में पेश करती है... संपूर्ण सामाजिक परिस्थिति का जायज़ा लेते हुए लंबी कविता मूल्यों का एक निकष भी सामने रखती है और इस तरह दर्शन के ज़्यादा क़रीब आ जाती है।''

('तनक़ीदी तनाज़ुर' : क़मर रईस, पृ. 99)

यह धारणा सरदार जाफ़री की कुछ लंबी नज़्मों की अंतःप्रकृति पर रोशनी डालती है। यानी ये नज़्में उनके युग के इन्सान की ज़िंदगी के संघर्षशील चरित्र का अहाता करती हैं। इतना ही नहीं ये नज़्में उस दौर के सामाजिक जीवन में

व्याप्त विचारों के द्वंद्व का ब्योरा भी देती हैं और अंततः यह सारी प्रक्रिया एक दार्शनिक दिशा अख़्तियार कर लेती है। 'नई दुनिया को सलाम' में यह एहसास ज़्यादा शिद्दत से होता है, जो बक़ौल शाइर एक रूपक काव्य है। इसके केंद्रीय चरित्र जावेद और मरियम उपनिवेशवादी गुलामी के ख़िलाफ़ बलिदानपूर्ण संघर्ष के सशक्त प्रतीक बन जाते हैं, और एक मासूम और हसीन अजन्मा बच्चा है जो इस नई दुनिया, नई व्यवस्था का प्रतीक है, जो जल्द ही अस्तित्व में आने वाली है। अदम्य आशावाद और दृढ़विश्वास इस कविता की मूल आत्मा है।

शाइर ने नज़्म को छह हिस्सों (तस्वीरों) में बाँटा है। संरचना की दृष्टि से भी यह नज़्म एक प्रयोग है। जाफ़र अली ख़ाँ 'असर' ने इस नज़्म पर तब्सिरा करते हुए लिखा है–

''जाफ़री साहब ने नज़्म का जो रूपविधान निश्चित किया है, वह बहुत दिलकश और संगीतात्मक है। बावजूद इसके कि काफ़ी हिस्से का रूप आज़ाद नज़्म का है। इससे उनकी उरुज़ (पिंगल) से वाक़िफ़यत और ज़ुबान पर क़ुदरत का पता चलता है।''

नज़्म के संरचनागत ताने-बाने में बड़ा संतुलन है। इसमें मानवीय जीवन के सातत्य और स्वाधीनता के अधिकार को केंद्रीय स्थिति प्राप्त है। रूप और अंतर्वस्तु की अनुरूपता ने नज़्म को एक सौन्दर्यात्मक इकाई में ढाल दिया है। नज़्म की समूची व्यवस्था में जीवन और संसार के प्रति शाइर के दृढ़ आशावादी सरोकार प्रभावी रहते हैं। सरदार जाफ़री ने अपनी काव्य-रचना संबंधी जिन मान्यताओं की ओर संकेत किया है, उनके चिह्न और प्रभाव भी इस नज़्म में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। जावेद और मरियम के संवादों की भाषा शाइराना लालित्य के बावजूद बोलचाल की ज़बान है आज़ाद नज़्म के फ़ॉर्म में संवाद क़ाफ़ियों से मुक्त होते हुए भी आंतरिक संगीत से परिपूर्ण होते हैं जो पाठक को गिरफ़्त में रखते हैं। आज़ादी का दीवाना जावेद जिसे फाँसी की सज़ा मिलती है, कहता है–

कल के दिन हम न होंगे मगर
ज़िंदगी मुस्कुराती रहेगी
अपनी शम्एँ जलाती रहेगी
आसमानों का फ़ीरोज़ी रंग उतना ही दिलकश रहेगा
और उफ़क़ की ज़बीं रोशनी से चमकती रहेगी
आज की तरह कल भी ज़मीं

अपने महवर[1] पर घूमा करेगी
और फ़ज़ाओं की लाइंतिहा पहनाइयों[2] में
कल भी झूमा करेगी
आरती बज़्मे अंजुम उतारा करेगी
आज की तरह कल भी जमीं
चश्मए-नूर में ग़ुस्ल करके
सुर्ख़ सूरज के आईने में
अपनी ज़ुल्फ़ें सँवारा करेगी

समूची नज़्म में काइनात की गतिशीलता का भाव आद्योपांत विद्यमान है, इससे संवाद भी गतिशील बने रहते हैं और इस तरह जीवन और संसार की सुंदरता और नित्यता के प्रति शाइर का विज़न पूरी नज़्म के रूपक-विधान में रचा-बसा महसूस होता है।

दूसरी लंबी नज़्म जो आज़ादी से पहले मार्च, 1946 में प्रकाशित हुई, लगभग दो सौ शे'रों की मस्नवी है। जाफ़री इस नज़्म के प्राक्कथन में लिखते हैं—

''हैरत है कि इस मुफ़ीद विधा (मनस्वी) से प्रगतिशील शाइरों ने अब तक कोई काम नहीं लिया है। मेरा अनुभव यह है कि हम इससे बहुत-कुछ फ़ायदा उठा सकते हैं। जब मैं हिंदुस्तान और दुनिया के मौजूदा हालात, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय जद्दोजहद व कशमकश और उससे उत्पन्न होने वाली मानवीय भावनाओं के विस्तार और फैलाव को देखता हूँ तो महसूस करता हूँ कि मस्नवी के सिवा और कोई काव्यविधा इन्हें अपने दामन में समेट नहीं सकती।''

('कुल्लियाते जाफ़री' संपादक अली अहमद फ़ातमी, पृ. 275)

जैसा कि शाइर ने स्वीकार किया है, इस नज़्म के हीरो मेहनतकश अवाम है। जिनके हाथों में ज़िन्दगी की बागें हैं वे सारी पृथ्वी को अपनी गिरफ़्त के लिए हुए हैं। ये वे अवाम हैं जो इतिहास के गलियारों और समाज के हर कोने में ताज़ा ख़ून की तरह दौड़ रहे हैं।

यह वह ज़माना है जब हिंदुस्तान और उसके अवाम विदेशी ग़ुलामी से आज़ाद होने वाले हैं। जल्द ही लोकतांत्रिक व्यवस्था में हुकूमत की बागडोर उनके हाथों में होगी। शाइर नज़्म के आरंभ में उन्हीं को संदेश देता है—

1. धुरी, 2. अनंत विस्तार

उठो हिंद के बाग़बानो उठो
उठो इन्क़िलाबी जवानो उठो
उठो जैसे दरिया में उठती है मौज
उठो जैसे आँधी की बढ़ती है फ़ौज
ग़ुलामी की ज़ंजीर को तोड़ दो
ज़माने की रफ़्तार को मोड़ दो

इस नज़्म पर इक़बाल की शाहकार नज़्म 'साक़ी नामा' का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। जाफ़री ने मस्नवी के लिए 'साक़ी नामा' की बहर का चुनाव किया है। अलबत्ता शब्द-चयन में वे अवामी मुहावरे और लहजे के ज़्यादा क़रीब आ गए हैं। यह उनकी रचना-यात्रा का एक मोड़ था। एक प्रयोग भी था। इसका विषय निस्संदेह महान आदर्शों से युक्त हैं। घोर परिश्रमी अवाम की ताक़त, रचनात्मक सामर्थ्य और पराक्रम का ऐसा रज़्मिया[1] अभी तक उर्दू में लिखा नहीं गया था। इसके बावजूद इस नज़्म की अपेक्षानुरूप प्रशंसा न हो सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि नज़्म में वर्णनात्मक शैली को अपनाया गया है। इसमें प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का वह सौंदर्य समाहित नहीं हो सका है जो 'पर्वाज़' संग्रह की बेशतर नज़्मों की सबसे बड़ी विशेषता है। इसलिए इसे पत्रकारिता के अंदाज़ की नज़्म समझा गया। कुछ शे'र देखिए—

यहाँ से जो उठती है लेके गुहर
घटा वो बरसती है इंग्लैंड पर
हमारे मुक़द्दर में अफ़लास[2] है
ग़ुलामी की हर जिस्म में बास है
जिसे देखो मुफ़लिस है कंगाल है
हर इक शहर, हर गाँव-बंगाल है!

यहाँ अभिव्यक्ति की सादगी में सपाटपन पैदा हो गया है।

इसके कुछ वर्ष बाद ही 1950 में 'अम्न का सितारा' नाम से उनकी एक कृति प्रकाशित हुई जिसमें 'सोवियत यूनियन और जंगबाज़', 'स्टालिन कथा' और 'अम्न का सितारा' शीर्षक तीन नज़्में संगृहीत हैं।

1. वह कविता जिसमें युद्धों और संघर्षों का वर्णन हो। हिंदी के उदाहरण से इसे युद्ध-काव्य या वीर गाथा कहा जा सकता है।
2. अभाव, ग़रीबी

यह वह ज़माना था जब सोवियत अवाम और लाल सेना हिटलर की नाज़ी फ़ौजों को शिकस्त देकर अपने वतन और साम्यवादी समाज के निर्माण कार्य में तन-मन से जुटे हुए थे। दुनिया के सबसे बड़े देश चीन में साम्यवादी क्रांति कामयाब हो चुकी थी। वियतनाम, हिंद-चीन, कोरिया और तीसरी दुनिया के दूसरे देशों में क्रांतिकारी शक्तियाँ बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रही थीं। हिंदुस्तान में तेलंगाना के किसानों का क्रांतिकारी आंदोलन उभर रहा था। इस उत्साहजनक माहौल में कम्युनिस्ट पार्टी से संबद्ध हिंदुस्तानी शाइर और लेखकों के इरादे बहुत बुलंद थे। सारी दुनिया में सामराजी ताक़तों के मुक़ाबले में वे अवाम की क्रांतिकारी कामयाबियों पर नज़रें जमाए हुए थे। मख़्दूम मुहीउद्दीन, कैफ़ी आज़मी, वामिक़ जौनपुरी, नियाज़ हैदर और परवेज़ शाहिदी की तरह सरदार जाफ़री भी साम्यवादी व्यवस्था और विश्वशांति की स्थापना का परचम उठाये हुए थे। इसलिए यहाँ चर्चित तीनों नज़्मों में जन-जागरण का क्रांतिकारी वातावरण साफ़ झलकता है।

'स्तालिन कथा' में जाफ़री ने हिंदी-उर्दू की एक लोकप्रिय रज़्मिया बहर का चुनाव किया है जिसका आरंभ इस तरह होता है :

आज़ादी के लड़ने वालो सुनो कथा स्तालिन की
सारे जग में जिसके दम से उजियारी है लेनिन की
जिसने निर्बल निर्धनजन को मुक्ति मार्ग दिखाया है
जिसने जनता की शक्ति से जनता राज बनाया है

नज़्म में नाज़ी हमलों की हार पर लाल सेना के बेमिसाल बलिदान और पराक्रम को श्रद्धांजलि दी गई है। लेकिन नज़्म में अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा और उपदेश परकता का समावेश हो गया है। विशेष रूप से उस हिस्से में जहाँ सोवियत अवाम की साधन संपन्नता और आर्थिक ख़ुशहाली का ज़िक्र है। मसलन यह बंद—

थिरक रही है ज़िंदगी फ़राग़तों की छाँव में
हसीन गीत तैरते हैं नीलगूँ फ़ज़ाओं में
यहाँ ग़मों की बेड़ियाँ नहीं किसी के पाँव में
न कोई अश्कबार है, न कोई सोगवार है

हालाँकि इस युद्ध में एक-एक मोर्चे पर लाखों नौजवान मारे गए थे। लाखों औरतें विधवा और करोड़ों बच्चे अनाथ होने का दुःख झेल रहे थे। हज़ारों कारख़ाने तबाह हो चुके थे। पूरा देश दारिद्रय और आर्थिक संकट की गिरफ़्त में था।

दूसरी नज़्म के बारे में सरदार जाफ़री ने प्राक्कथन लिखा है:

"सोवित यूनियन सरमायादारी, सामराजी अत्याचार और आधिपत्य को मुद्दत हुई ख़त्म कर चुका...उन्होंने ज़हनी और जिस्मानी मेहनत का फ़र्क़ मिटा दिया है और इस तरह एक ऐसी तख़्लीक़ की है जिसे सही मा'नों में इन्सान कहते हैं।

स्तालिन इसी इन्सान को बनाने वाला है। वह देवता, पयम्बर और अवतार नहीं है बल्कि इस इन्सान की मुकम्मल तस्वीर है इसलिए हमारे दिल स्तालिन की मुहब्बत और अक़ीदत से सरशार हैं।"

(कुल्लियाते जाफ़री, भाग एक, पृ. 448)

यहाँ भी सरदार जाफ़री ने बेजा अतिशयोक्ति से काम लिया है। स्तालिन न कोई आदर्श इन्सान था, न नेता। न ही वह अपने प्रभुत्व में अतिचार और बलप्रयोग से एकदम मुक्त एक बेहतर इन्सान को जन्म दे सका।

जाफ़री ने लिखा है कि 'स्तालिन कथा' में हिंदी और उर्दू की एक लोकप्रिय बहर को अपनाया गया है। उनका संबंध अवध से था और अवधी बोली की मशहूर Legendary वीर गाथा 'आल्हा' से यक़ीनन वे परिचित होंगे। अपनी नज़्म में उन्होंने इसी 'आल्हा' की बहर अख़्तियार की है। सज्जाद ज़हीर ने भी इसी वज़न में लेनिन के बारे में एक गीत लिखा था जो एक ज़मानों में काफ़ी लोकप्रिय था और IPTA व प्रगतिशील लेखकों के जलसों में गाया जाता था। सरदार जाफ़री की यह नज़्म भी IPTA के स्टेज पर बार-बार पेश की गई। जाफ़री ने अवधी बोली की देशज अभिव्यक्तियों और ऐसे मुहावरों का प्रयोग भी किया है जिनको बाज़ारी कहा जाता है। इसके बावजूद पूरी नज़्म में शाइर के भावावेग, इतिहास-दृष्टि, साम्यवादी आस्था, अंतरराष्ट्रीय हालात का आकलन और रचनात्मक विज़न बहुत साफ़ नज़र आते हैं। कुल मिलाकर नज़्म में उर्दू के अवामी मुहावरे को प्रमुखता से बरता गया है। उपमाओं और प्रतीकों का बेसाख़्ता प्रयोग भी नज़्म की प्रभविष्णुता को बढ़ा देता है। सोवियत रूस पर नाज़ी फ़ौजों के तूफ़ानी हमलों का यह दृश्य देखिए:

नाज़ी फ़ौजें रूस पे झपटी जैसे काली आँधी आए
हरे-भरे खेतों पर जैसे टिड्डी दल आकर छा जाए
टैंक चलें धड़ धड़ धड़ करते, लोहे के हाथी झूमें
रूसी खेलों और शहरों में तोपे मुँह खोले घूमें

उड़ती है बारूद, लहू के धरती पर फ़व्वारे हैं
लोहे और फ़ौलाद के गिध आकाश पे पंख पसारे हैं
नभ को आग के गोले चाटें लंबी लंबी जीभ निकाले
रन में धुएँ के अजगर नाचें मोटे-मोटे काले-काले

पूरी नज़्म में प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति की इसी कैफ़ीयत का एहसास होता है। विनाशकारी हथियारों के साथ युद्ध के विषय को शाइराना हुस्न के साथ एक नज़्म में ढालना आसान काम नहीं था।

तीसरी नज़्म 'अम्न का सितारा' है। यह उन आरंभिक नज़्मों में से एक है जिनमें सरदार जाफ़री ने आज़ाद नज़्म के फ़ॉर्म में महारत हासिल करने की कोशिश की है।

यह नज़्म भी पिछली दो नज़्मों की तरह सोविय साम्यवादी व्यवस्था, उसके अवाम और नेताओं के प्रति श्रद्धा भाव से परिपूर्ण है। इसमें नौ बंद हैं और इसे सरदार जाफ़री ने 'एक शाइरनाना तक़रीर' का नाम दिया है और लिखा है कि नज़्म में अपने जोशे अक़ीदत और ख़िराजे मुहब्बत को लेकर चला हूँ।

मुश्किल यह थी कि शाइर की विचारधारात्मक सख़्ती और सोवियत निज़ाम के आसपास खड़ी लोहे की दीवारों के कारण इस निज़ाम की कमज़ोरियों तक उसकी नज़र नहीं पहुँच सकी, और अगर पहुँचती भी तो उस युग में पार्टी का एक सक्रिय सदस्य इन कमज़ोरियों को बयान करने का साहस नहीं कर सकता था। इसलिए इन नज़्मों में उपदेशात्मकता और तथ्यात्मकता का रंग हावी रहा है। इस सिलसिले की कुछ अन्य नज़्में भी हैं जैसे 'इनक़िलाबे रूस', 'लेनिन' और 'आख़िरी ख़त' वग़ैरह। 1978 में 'तराना-ए-जम्हूर' नाम से एक संगह प्रकाशित हुआ था। इसमें भी सोवियत शासन की प्रशंसा में नज़्में शामिल थीं। ऐसी बात नहीं कि ये नज़्में काव्य-सौंदर्य विहीन हैं। सरदार जाफ़री की वैचारिक कट्टरता और साम्यवादी व्यवस्था की अतिरंजनापूर्ण श्लाघा के बावजूद इनमें शाइर की सर्जनात्मक प्रतिभा का जलवा देखा जा सकता है। सिर्फ़ यही नहीं, उन्होंने अपनी इन रचनाओं में साम्यवादी दर्शन की व्यापकता, मानव-मैत्री, जन प्रतिबद्धता और विश्वशांति के भावों को बहुत स्पष्टता के साथ पेश किया है। इनके माध्यम से उर्दू शाइरी के कैनवस पर व्यापक मानवीय सरोकारों के बीज बो दिए गए हैं। भावनाओं और अनुभूतियों के नए रंग उभरे हैं। मसलन 'अम्न का सितारा' के छठे बंद का यह हिस्सा देखिए—

रूस की सरहदों की कोई हद नहीं
मुल्क और सल्तनत की हदें
वादियों, नदियों और पहाड़ों तलक
क़ौम की सरहदें सिर्फ़ तारीख़ो-नफ़सो-मआशो-ज़बानो-तमद्दुन[1] तलक
लेकिन इन्सान की कोई सरहद नहीं
सोवियत यूनियन की हदें
वादिओ-दश्तो-कुहसार[2] को तोड़कर
खुद दिलों से गुज़र जाती हैं
और न्यूयार्क के कारख़ानों में, लंदन के बिजली घरों में
कनाडा के खेतों में
बंगाल के झोपड़ों और नई दिल्ली के दफ़्तरों में बिखर जाती हैं

सारी इन्सानियत एक है
सोवियत यूनियन के तरब ज़ार से
हिंदो-ईरान के आँसुओं तक
हब्शियों की सुलगती हुई रूह से
वियतनाम और बर्मा की बिफरी हुई बिजलियों तक
सारी इंसानियत एक है
कुर्रा-ए-अरज़[3] भी एक है
कायनात एक है

पूरी नज़्म सीख और उपदेश के बावजूद कलात्मक अभिव्यक्ति का सुंदर नमूना है।

इस दौर में सरदार जाफ़री का एक और संग्रह 'खून की लकीर' 1949 में प्रकाशित हुआ। इसमें शामिल बेहतर नज्में वे हैं जो 'पर्वाज़' में भी प्रकाशित हो चुकी हैं। संग्रह में उनचास क़त्ओं के अलावा 'मल्लाहों की बग़ावत', 'गर्दे-कारवाँ', 'ख़्वाब', 'सैलाबे चीन', 'आँसुओं के चिराग़' और 'फ़रेब' जैसी महत्त्वपूर्ण नज़्में

1. इतिहास, अस्तित्व, आजीविका, भाषा-संस्कृति
2. जंगल और पहाड़
3. पृथ्वी

शामिल हैं। इनमें से कामयाब नज़्में वे हैं जो आज़ाद फ़ॉर्म में लिखी गई हैं। 'ख़्वाब' जश्ने आज़ादी के फ़ौरन बाद ज़ब्त 'तहरीर' में आई थी। शाइर इसमें लम्बे धैर्य और संघर्ष के बाद बड़े उत्साह के साथ आज़ादी का स्वागत करता है–

जाग हिंदोस्ताँ अपने ख़्वाबे गिराँ से
देख आज़ादी की सुबह का नूर फैला हुआ है
तेरे बरसों के बिछड़े हुए लाल घर आ रहे हैं
ये गुलामी की ज़ंजीर को तोड़ आये
क़ैद ख़ानों के दर खोल आए
अपनी आग़ोश में उनको बढ़कर उठा ले
अपने दिल में बिठा ले

नज़्म में देश प्रेम की पवित्र भावना के ताप का एहसास होता है। आख़िरी बंद में शाइर करोड़ों बरस से अपनी आग में जलने वाले सूरज को आवाज़ देता है–

ऐ हज़ारों बरस के थके-माँदे बूढ़े मुसाफ़िर
हमारी ज़मीन पर उतर आ
दो घड़ी हिंद के सब्जाज़ारों में आराम कर ले
अपनी झोली को फूलों से भर ले
और अपने सफ़र पर चला जा

संग्रह में इसके बाद ही एक और नज़्म है 'फ़रेब' जो शायद कुछ अर्से बाद ही लिखी गई थी जब कम्युनिस्ट पार्टी ने आज़ादी को फ़रेब क़रार दिया और मेहनतकश इन्सानों को पूँजीवादी व्यवस्था और बुर्जुआ शासन से मुक्ति दिलाने के लिए क्रांतिकारी जद्दोजद जारी रखने का आह्वान किया। 'फ़रेब' का यह हिस्सा देखें–

ख़्वाब ज़ख़्मी हैं उमीदों के कलेजे छलनी
मेरे दामन में है ज़ख़्मों के महकते हुए फूल
मैं जिन्हें कूचओ-बाजार से चुन लाया हूँ
क़ौम के राहबरो, राहज़नो!
तुमने फ़िरदौस के बदले में जहन्नुम लेकर

कह दिया हमसे गुलिस्ताँ में बहार आई है
चंद सिक्कों के इवज़ चंद मिलों की ख़ातिर
तुमने नामूस[1] शहीदाने वतन बेच दिया
बाग़वाँ बन के उठे और चमन बेच दिया।

आज़ादी के बाद के दौर में सरदार जाफ़री और दूसरे प्रगतिशील शाइरों के दिलो-दिमाग़ पर ख़ूनी दंगों और हिजरत के हृदय विदारक दृश्य प्रेतबाधा की तरह छाए हुए थे जिसका एक अक्स उनकी नज़्म 'आँसुओं के चिराग़' में मिलता है। लिखते हैं–

ये रात है किस क़दर भयानक
ये ख़्वाब है कि किस क़दर परीशाँ
हज़ारों सहमी हुई निगाहें
बिलकती आँखें सिसकती पलकें
अँधेरी शब में
करोड़ों अश्कों के झिलमिलाते चिराग़ लेकर
हुजूम में क़ातिलों के
इंसाफ़ के फ़रिश्तों को ढूँढ़ती हैं।

इस युग की दूसरी महत्त्वपूर्ण नज़्मों मसलन 'कशमकश' में यह एहसास फिर एक क्रांतिकारी स्वर में ढलता नज़र आता है कि पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद पर क़ायम लोकतांत्रिक शासन प्रणाली हिंदोस्तान के करोड़ों अवाम को दरिद्रता, बदहाली, अन्याय और उत्पीड़न के दलदल से बाहर नहीं निकाल सकेगी। लेकिन इन नज़्मों में सरदार जाफ़री का सर्जनात्मक लहजा और अपनी आवाज़ उभरती दिखाई देती है–

कैसे समझाऊँ बहारों का गुलाबी जोड़ा
आज तक रूह ख़िज़ाँ ज़ेब बदन कर न सकी
तिश्नगी खेतों की शबनम से बुझी है न बुझे
चाँदनी ज़ख़्मों में काफ़ूर कभी भर न सकी
मौजें जब बढ़ती हैं दरियाओं में तूफ़ान बदोश
अपनी हर मौज को शमशीर बना लेती हैं

1. आबरू, शर्म

जब उतरती हैं फ़ज़ाओं से ज़मीं पर किरनें
सुर्ख़ नेज़ों पे अँधेरों को उठा लेती हैं

इन नज़्मों में कैसे अछूते, जानदार और मनोहारी बिम्ब बिखरे पड़े हैं। नए सामाजिक बोध से संपन्न प्रतीकात्मक रचनाशैली का यह रूप सच तो यह है कि उस युग के किसी कमिटेड शाइर के कलाम में प्राप्त नहीं होता।

(ग) सृजनात्मक अभिव्यक्ति की नई करवटें

इसी सर्जनात्मक अभिव्यंजना शैली के साथ सरदार जाफ़री की शाइरी दूसरे दौर में दाख़िल होती है। अब उनका मानसिक क्षितिज ज़्यादा विस्तृत, उनका भावबोध ज़्यादा जाग्रत, उनकी दृष्टि ज़्यादा दूर-रस और उनके सरोकार ज़्यादा व्यापक हो जाते हैं। जिसके चिह्न 1950 में प्रकाशित होने वाली उनकी लंबी कविता 'एशिया जाग उठा' में आसानी से देखे जा सकते हैं।

इसके अलावा उनके चार कविता-संग्रह और हैं–

1. पत्थर की दीवार, 1953
2. एक ख़्वाब और, 1964
3. पैराहने शरर, 1965
4. लहू पुकारता है, 1968

इन संग्रहों के अलावा उनके अंतिम दिनों की कुछ शाहकार नज़्में मसलन 'नवंबर मेरा गहवारा' और 'दिल और शिकस्ते दिल' किसी संग्रह में नहीं लेकिन उनके कुल्लियात में शामिल हैं।

सरदार जाफ़री ने जब 'एशिया जाग उठा' लिखी तो उस समय सचमुच सारे एशिया में जागृति एक लहर दौड़ रही थी। हिंदुस्तान आज़ाद हो चुका था। चीन में माओ त्से तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी क्रांति कामयाब होकर आगे क़दम बढ़ रही थी। इंडोनेशिया और वियतनाम से लेकर मलाया तक और तेलंगाना, बंगाल और केरल तक क्रांतिकारी शक्तियाँ संगठित हो रही थीं। मध्य एशिया में पहले ही पाँच सोशलिस्ट रियासतें साम्यवादी निर्माण के मार्ग पर अग्रसर थीं। यह ऐसा उत्साहवर्धक माहौल था जिसने साम्यवादी विचारधारा के युवा साहित्यकारों के दिलों को नए सपनों और उमंगों से भर दिया था।

नज़्म 'एशिया जाग उठा' उस युग में अवाम की जागृति और क्रांतिकारी जद्दोजहद का जीवंत चित्र प्रस्तुत करती है। हालाँकि इस जोशीले वातावरण ने

नज़्म के भूमिका भाग 'हर्फ़े अव्वल' को अख़बारी नारेबाज़ी के रंग में रंग दिया है। इस हिस्से में ऐसे मिसरे भी मिलते हैं–

ज़िंदगी बदली है बदला है ज़माने का मिज़ाज
फोड़ देंगे हम ये आँखें, हमको आँखें मत दिखाओ
एशिया से भाग जाओ
हम भी देंगे तुम्हें अब जूते से जूते का जवाब
हाँ बड़े आए कहीं के लाट साहब जाओ, जाओ
एशिया से भाग जाओ

लेकिन इस भावुकतापूर्ण भूमिका के बाद पूरी नज़्म की संवेदना में गंभीरता पैदा होती जाती है और नज़्म कला का एक श्रेष्ठ नमूना बन जाती है। इसमें प्राचीन एशियाई संस्कृतियों के इतिहास और ज्ञान एवं ललित कलाओं की उपलब्धियों की सारी दास्तान इस तरह सिमट जाती है, जो किसी अन्य नज़्म में नहीं मिलती। कृश्नचंदर ने इस नज़्म को पढ़कर लिखा था–

''नज़्म एशिया जाग उठा' एक ही साथ संघर्ष-गाथा और गेय कविता दोनों है जिसमें एपिक का प्रबंधात्मक सांगीतिक सौंदर्य है, नज़्म में एशिया का सारा सजल रूप सिमट कर समा गया है। यह नज़्म चार हज़ार वर्षीय संस्कृति की तस्वीर है।''

ऊँचे स्वरों के बावजूद नज़्म का हर दृश्य बोलता है, क्रियाशील है और पाठक को अपने साथ बाँधे रहता है। इसमें युद्ध-काव्य के वैभव के साथ-साथ लोककथाओं की रोचकता और गीतों की मधुर रवानी है। देखिए :

ये एशिया की ज़मीं, तमद्दुन की कोख, तहज़ीब का वतन है
जबीं पे तारों का ताज, पैरों में झाग की झांजनों का नग़मा
ज़मीन–सदियों पुराना चेहरा
किसान–सदियों पुराने हाथों में
अपने लकड़ी के हल सँभाले
ग़रीब मज़दूर–जलती आँखें
उचाट नींदों की तल्ख़ रातें
जहाज़, मल्लाह, गीत, तूफ़ान
कुम्हार, लोहार, चाक, बर्तन

ग्वालिनें दूध में नहाईं
अलाव के गिर्द बूढ़े अफ़सानागो—कहानी
फ़ज़ाओं में बाँसुरी का लहरा
हरी-भरी खेतों में शीशे की चूड़ियाँ
खनखना रही हैं
उदास चेहरा पयंबरों की तरह से ख़ामोश और गंभीर
खजूर के पेड़ बाल खोले

नज़्म में इसी तरह एक के बाद एक स्वाभाविक रूप से आकृतियाँ उभरती चली जाती हैं। कहीं अतिरिक्त प्रयास का एहसास नहीं होता। वर्णन की सरलता में कला-शिल्प की सुंदरता है। निस्संदेह रूप से इस तवील रज़्मिया नज़्म से सरदार जाफ़री की नज़्मिया शाइरी का नया दौर शुरू होता है।

'पत्थर की दीवार' जाफ़री की जेल में कही हुई नज़्मों का संग्रह है। संग्रह की अनेक नज़्में अल्पकालिक महत्त्व के विषयों में पर आधारित हैं। जाफ़री ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है लेकिन प्राक्कथन में यह भी विश्वास के साथ कहा है, 'नज़्मों की ताज़गी और अहमियत उस वक़्त तक बाक़ी रहेगी जब तक हिंसा और अत्याचार पर आधारित मौजूदा निज़ाम ज़िंदा है और जब तक अवाम के दिलों में हिम्मत और एक नए बेहतर निज़ाम को क़ायम करने की उमंग बाक़ी है। संग्रह में पाबंद नज़्में भी हैं, मुअर्रा[1] भी और आज़ाद भी। लेकिन ऐसा लगता है जैसे जाफ़री आज़ाद नज़्म के फ़ॉर्म को अब ज़्यादा कामयाबी और हुनरमंदी के साथ बरतना चाहते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'अवध की ख़ाके हसीं', 'तुम्हारी आँखें' और 'नींद' जैसी शाहकार नज़्में हैं जिनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सामर्थ्य प्रगतिशील शाइरी के बीच सरदार जाफ़री को एक अलग मुक़ाम दिलाती है। 'अवध ही ख़ाके-हसीं' में उस क्षेत्र विशेष के भूख, ग़रीबी, और पिछड़ेपन के कारुणिक दृश्यों को उभारा गया है जो शाइर के मन को द्रवित कर देते हैं। लेकिन इसके साथ ही साथ शाइर अवध के ऐतिहासिक गौरव, सांस्कृतिक संपन्नता और प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रांकन भी करता जाता है। यह बंद देखिए :

मैं रात के वक़्त अपने ख़्वाबों में चौंक पड़ता हूँ
जैसे मुझको अवध की मिट्टी बुला रही है

1. वह नज़्म जिसमें रदीफ़-क़ाफ़िए का प्रयोग लाज़िम न हो।

हसीन झीलें कँवल के फूलों की चादरों में ढँकी हुई हैं
फ़ज़ाओं में मेघदूत पर्वाज़[1] कर रहे हैं।
न जाने कितनी मुहब्बतों के पयाम लेकर
घटाओं की अपसराएँ अपनी
घनेरी ज़ुल्फ़ों में आख़िरी बार मुस्करा कर
ख़लीजे-बंगाल और बहरे-अरब के मोती पिरो रही हैं
हरे परों और नीले फूलों के मोर ख़ुश होके नाचते हैं
क़दीम गंगा का पाक पानी ज़मीं के दामन को धो रहा है
वो खेतियाँ धान से भरी हैं
जहाँ हवाएँ अज़ल के दिन से सितार अपना बजा रही हैं
हिमाला की बुलंदियाँ बर्फ़ से ढँकी हैं
उन आसमान बोस चोटियों को
सहर के सूरज ने सात रंगों की कलग़ियों से सजा दिया है

'पत्थर की दीवार' संग्रह में शामिल अधिकांश नज़्में जाफ़री ने जेल जीवन के दौर में कही थीं। इसलिए वे घर और बाहर के आज़ाद जीवन की मोहक स्मृतियों से ओत-प्रोत हैं। यह 'पत्थर की दीवार' हो, 'नींद' हो या 'तुम्हारी आँखें' अधिकांश नज़्में शाइर के पीड़ादायक एकांत के बोझ को उठाने का साधन बन जाती हैं। यह बंद देखिए—

मैं लिख रहा हूँ
तुम्हारी आँखें सफ़ेद क़ागज़ पे अपनी पलकों से चल रही हैं
मैं पढ़ रहा हूँ
तुम्हारी आँखें हर इक सतर की भौहों के नीचे लरज़ रही हैं
मैं सो रहा हूँ
तुम्हारी आँखें, तुम्हारी पलकें कहानियाँ सी सुना रही हैं
मैं दोस्तों और साथियों में घिरा हुआ हूँ
मसर्रतों के गुलाब हर सिम्त खिल रहे हैं
तुम्हारी आँखों के फूल गोया महक रहे हैं

ऐसी अनगिनत मिसाले यहाँ दी जा सकती हैं। बेशक इस संग्रह में 'यलग़ार',

1. उड़ान

'कोरिया', 'सज्जाद ज़हीर के नाम' और दूसरी ऐसी नज़्में की शामिल हैं जो शाइर की वैचारिक और राजनीतिक संबद्धता की कहानी सुनाती हैं। लेकिन इस सच्चाई से इन्कार मुश्किल है कि भावों व विचारों की प्रौढ़ता और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में निखार की दृष्टि से सरदार जाफ़री इन नज़्मों में अपनी सृजन-यात्रा की एक नई मंज़िल पर खड़े नज़र आते हैं। ये वे विशेषताएँ हैं जो इसके बाद के संग्रहों 'एक ख़्वाब और' तथा 'पैराहने शरर' में और ज़्यादा निखरे हुए रूप में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और मख़्दूम की शैली से अलग उनकी पहचान बनाती हैं।

दरअसल इन दो संग्रहों में जिस ज़माने की नज़्में शामिल हैं, वह कम्युनिस्ट आंदोलन में विघटन और बिखराव तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर काफ़ी उथल-पुथल और परिवर्तनों का ज़माना था। चीन का आक्रमण, पार्टी का विभाजन, पार्टी कांग्रेस में ख़ुशचेव के तहलकाख़ेज रहस्योद्‌घाटन, क्यूबा का विवाद, पंडित नेहरू की मृत्यु के बाद देश में सोशलिस्ट समाज की रचना के सपनों का बिखरना, सोवियत यूनियन पर संशोधनवाद के आरोप, उपमहाद्वीप में भारत-पाक युद्ध और इसके विनाशकारी परिणाम, हिंदुस्तान के अल्पसंख्यकों विशेषतः उर्दू समाज में भय और संदेहों का वातावरण—इन परिस्थिति के द्वंद्व से सरदार जाफ़री भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। 'एक ख़्वाब और' के प्राक्कथन में लिखते हैं:

"ख़्वाब और शिकस्ते ख़्वाब इस दौर का मुक़द्दर है और नए ख़्वाब देखना इन्सान का एक ऐसा हक़ है जिसे कोई ताक़त कोई प्रभुत्व उसे वंचित नहीं कर सकता और शायद यही इंसान और इंसानियत के मुस्तक़बिल की ज़मानत है।"

—*'कुल्लियाते-जाफ़री' भाग दो, पृ. 183*

इसी शीर्षक की नज़्म में लिखते हैं

दरबदर ठोकरें खाते हुए फिरते हैं सवाल
और मुजरिम की तरह उनसे गुरेज़ाँ है जवाब
सरकशी[1] फिर मैं मुझे आज सदा देता हूँ
मैं तिरा शाइरे-आवरा-ओ-बेबाको—ख़राब
फ़ैंक कर जज़्बए बेताब की आलम पे कमंद[2]
एक ख़्वाब और भी ऐ हिम्मते-दुश्वार पसंद

1. उद्दंडता, दुस्साहस
2. फंदा, जाल

इन संग्रहों में सरदार जाफ़री की 1965-66 में लिखी हुई दस से ज़्यादा ऐसी नज़्में मिलती हैं जो आस-पास के हालात को लेकर उनके मानसिक द्वंद्व और दुविधा से बोझिल हैं। भारत-पाक युद्ध और मानव-रक्त के अपमान ने उन्हें विचलित कर दिया था। 'अमानते-ग़म', 'लहू पुकारता है', 'गुफ़्तगू', 'आरज़ूए-तिश्नालबी', 'तुम्हारा असीर', 'फूल चाँद' और 'परचम' इस सिलसिले की प्रभावशाली नज़्में हैं। एक शीर्षक विहीन नज़्म का यह अंश देखिए—

उँगलियाँ बादे-सबा की भी लहू से तर हैं
चाक होते हुए देखा है चमन का सीना
तारे-पैराहने-गुल, उड़ते हुए देखा है
कोई बतलाओ कि इस दौरे-सियह-ओ-वहशत[1] में
हुस्ने-मासूमो-दिल आरा की अदा क्या होगी
इश्क़े-बर्बाद के आदाबे-जुनूँ क्या होंगे

यहाँ संकेतों के माध्यम से शाइर की आत्मिक पीड़ा मूर्त होकर सामने आ जाती है। लेकिन इसी युग की दूसरी रचनाओं में शाइर इस आशा और विश्वास को व्यक्त करता है कि दोनों पड़ोसी देशों के अवाम और आपस में जुड़े लोग फिर से प्रेम और भाईचारे के दीये जलाएँगे। शांति की वार्ताएँ ज़रूर फलीभूत होंगी—

सुबह तक ढल के कोई हर्फ़े वफ़ा आएगा
इश्क़ आएगा, बसद लग़ज़िशे पा आएगा
नज़रें झुक जाएँगी, दिल धड़केंगे लब काँपेंगे
ख़ामुशी बोसाए-लब बनके महक जाएगी
सिर्फ़ ग़ुंचों के चटकने की सदा आएगी

इनके अलावा भी इस संग्रह में 'हाथों का तराना', 'मिरे अज़ीज़ो मिरे रफ़ीक़ो' 'हसीनतर', 'तुम नहीं आए थे जब', 'सरे तूर-निवाला' और 'मेरा सफ़र' जैसी सशक्त रचनाएँ शामिल हैं।

लालित्यपूर्ण प्रतीकात्मक भाषिक अभिव्यक्ति में रची-बसी जाफ़री की उस दौर की नज़्मों के बारे में यह भी कहा गया कि ये फ़ैज़ के रूमानवी रवैए से प्रभावित होकर लिखी गई हैं। यह सही है कि दोनों प्रगतिशील शाइरों की अनगिनत

1. दीवानगी, घबराहट

रचनाओं में उपमाओं और प्रतीकों के सार्थक प्रयोग पाठकों को प्रभावित करते हैं। लेकिन यह भी सच है कि जाफ़री का बिम्ब-विधान ज़िंदा सच्चाइयों का एहसास कराता है। इसमें ऐतिहासिक विवेक और सांस्कृतिक चेतना भी कारफ़र्मा रहती है। प्रो. रफ़िया शबनम आबदी ने दोनों शाइरों की रूमानवी अभिव्यक्ति की सांगीतिक विशेषताओं की तुलना करते हुए लिखा है–

"सरदार जाफ़री के यहाँ दुहरी तस्वीर मिलती है। कभी घन गरज वाला खनकता हुआ लहजा, जैसे दूर किसी जंगल में आग लगी हो या बस्ती में आँधी आ गई हो कभी ठहरा-ठहरा, सँभला-सँभला सुलझा हुआ अंदाज़, अल्फ़ाज़ नपे-तुले संजीदगी में नहाये हुए, फ़िक्र में डूबे हुए, ख़ाको-ख़ून में लिथड़े हुए, जैसे कोई सेनापति मैदाने जंग में हारे-थके सिपाहियों को दुश्मन पर हमले करने के लिए उकसा रहा हो। या फिर कोई बुद्ध अँधेरी गुफाओं की ख़ामोशी में अपने शिष्यों को जीवन और मृत्यु का दर्शन समझा रहा हो। ऐसी शाइरी रूह में उतरे न उतरे, दिलो-दिमाग़ को रोशन कर देती है और इन्सान के सामने सृष्टि के रहस्यों को खोलकर रख देती है...जब यही सरदार जाफ़री मूर्त बिम्बों के करिश्मे दिखाते हैं तो ऐसे मोहक और अलबेले नमूने नज़र के सामने से गुज़रते है कि तबीयत ख़ुश हो जाती है।"

–(अली सरदार जाफ़री नम्बर, 'अफ़्कार' कराची, पृ. 86)

'पैराहने शरर' 1965 और 'ख़ून की लकीर' संग्रह 1968 में प्रकाशित हुए। इन संग्रहों में भारत-पाक युद्ध से पैदा हुई बर्बादी और कटुता की अनुगूँज साफ़ सुनाई देती है। उर्दू साहित्यकारों विशेष रूप से प्रगतिशीलों के लिए यह बड़ी आज़माइश का समय था। अपने देश की संप्रभुता और अखंडता की रक्षा करने के साथ-साथ उन्हें मानव-मैत्री और विश्वशांति के मूल्यों की पक्षधरता भी करना था जो कि उनके ध्येय का हिस्सा था। इससे बढ़कर यह कि दोनों देशों के अवाम हज़ारों साल से इतिहास, संस्कृति और भाषायी एकता के जिन रिश्तों से बंधे थे, आपस में जैसे उनके प्रेमसंबंध थे, एकता थी, इन सब चीज़ों पर आघात होने का सबसे ज़्यादा दुःख उर्दू के भुक्तभोगी शाइरों और क़लमकारों को हुआ।

सरदार जाफ़री ने इस ज़माने में 'कौन दुश्मन है?', 'सुबहे फ़र्दा', 'गुफ़्तगू' और 'लहू पुकारता है' जैसी मार्मिक और ख़ूबसूरत नज़्में लिखीं। ये नज़्में सौहार्द और परदुःखकारता की पवित्र भावनाओं की बिना पर पूर देश में गूँज उठीं। सरदार जाफ़री 'पैराहने शरर' के हर्फ़े अव्वल में इन नज़्मों के हवाले से लिखते हैं–

"मैंने बीस बरस की शाइराना ज़िंदगी में इससे अच्छी नज़्में भी कहीं हैं, पुरसुकून ज़माने में भी और तूफ़ानी दौर में भी, मेरी किसी नज़्म का इतना शानदार स्वागत नहीं हुआ। इस तजुर्बे ने मेरे यक़ीन और हौसले को बढ़ाया है। मैं अपने मुल्क की सेहतमंद लोकतांत्रिक परंपराओं पर फ़ख़्र करता हूँ।"

–('कुल्लियाते जाफ़री', भाग दो, पृ. 330)

'कौन दुश्मन है' का यह बंद देखिए–

अभी तो सुबह की पहली हवाएँ सनकी हैं
अभी शगूफ़ों ने खोली नहीं है आँख अपनी
अभी बहार के लब पर हँसीं नहीं आई
न जाने कितने सितारे बुझी-सी आँखों के
न जाने कितने फ़सुर्दा[1] हथेलियों के गुलाब
तरस रहे हैं अभी रंगो-रोशनी के लिए
हमारे पास है क्या दर्दे-मुश्तरक[2] के सिवा
मज़ा तो जब था कि मिलकर इलाजे-जाँ करते
ख़ुद अपने हाथ से तामीर गुलिस्ताँ करते
हमारे दर्द में तुम और तुम्हारे दर्द में हम
शरीक होते तो फिर जश्ने-आशियाँ करते

यही वह ज़माना है जब सरदार जाफ़री ने पार्टी की सदस्यता छोड़ दी और (जैसा कि उन्होंने मुझे बताया)। अब लिखने-पढ़ने के कामों और त्रैमासिक 'गुफ़्तगू' के संपादन-प्रकाशन में उनकी व्यस्तता और ज़्यादा बढ़ गई। 1967 में उन्हें पद्मश्री का अलंकरण प्रदान किया गया और भारत सरकार के संस्कृति विभाग ने एमरिटस फ़ैलोशिप से सम्मानित किया। उन्हें प्रगतिशील लेखक संघ (उर्दू) का अध्यक्ष भी बनाया गया। ग़ालिब, इक़लाब, मीर तक़ी 'मीर' और संत कबीर पर उनकी जो किताबें (भूमिकाएँ) आईं, उनमें मार्क्सवाद के सिद्धांत निरूपण और संकीर्णतावाद के बजाय एक संतुलित दृष्टिकोण प्राप्त होता है। यहाँ अपनी विचार-दृष्टि में प्रकृति के नियमों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती दिखाई देती है। अब मानवमैत्री का अपेक्षाकृत एक ज़्यादा वैज्ञानिक और बहुआयामी दृष्टिकोण अपने सामने रोशन होने लगता है। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन ने धीरे-धीरे ही सही,

1. उदास, 2. साझा दुःख

उनके रचनात्मक सरोकारों को भी प्रभावित किया। अब वे सामयिक परिस्थितियों को सीधे-सपाट रूप में व्यक्त करने से गुरेज़ करते हैं। इसके बरअक्स वे इन परिस्थितियों के प्रभावों और अक्सों को सांकेतिक रूप से व्यक्त करने की कोशिश करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनकी कुछ नज़्मों में अमूर्तन की छाया दिखाई देनी लगती है। इस तरह उनकी सर्जनात्मक कला के अर्थबोध का एक नया पहलू पैदा होता है। जैसे उनकी नज़्में 'ख़ामुशी', 'आबला पा' और 'अमानते-ग़म' वग़ैरह।

नज़्म 'ख़ामुशी' देखिए—

ख़ामुशी ख़्वाब भी है
दर्द का एहसास भी है
शम्अ भी दिल के अँधेरे के लिए
हर्फ़ जो लब से तराशे न गए
ज़ायक़ा जिनका ज़बान ने कभी चखा ही नहीं
बुलबुलें हैं जो तमन्ना के चमनज़ारों में
रंग आएगा तो मसरूफ़ तरन्नुम होंगी
आज वो हर्फ़ हैं बस हर्फ़ ही हर्फ़
ना तराशीदा[1]-ओ-ना फ़र्मूदा[2]
रूह के तार पे मिज़राब[3] का रक़्स
शौक़ का नगमा-ए-बे-सौतो-सदा[4]

यह नज़्म खुद एक तराशी हुई शे'री इकाई है। ख़ामोशी अकेलेपन की एक कैफ़ीयत है। एक अनुभव है जिसे शाइर एक नाम दे रहा है। निश्चय ही यह एक संवेदनशील व्यक्ति की ख़ामोशी है। बेशक जिस अप्रस्तुत विधान (उपमाओं और प्रतीकों) के माध्यम से शाइर ख़ामोशी को बयान करना चाहता है, वह ग़ज़ल विधा के बहुत समीप है। इसलिए ख़ामोशी की नाज़ुक और रहस्यपूर्ण अनुभूति को सांकेतिकता के सहारे ही व्यक्त किया जा सकता है। यह गूढ़ इमेजरी पाठक के बोध को सक्रिय करके एक ऐसे नग़में में तल्लीन कर देती है जिस नग़मे को गाया ही नहीं गया। शम्अ, बुलबुलें, चमनज़ार, रंग (बहार), तरन्नुम, नग़मए-बेसौत—ये

1. बग़ैर तराशे हुए, 2. न कहे हुए, अकथ, 3. सितार बजाने का छल्ला, 4. बिना आवाज़ का नग़मा

तमाम शब्द और पद ग़ज़ल की सूक्ष्म और कोमल प्रवृत्ति से ग्रहण किए हैं और ख़ामोशी की मुखरता दिखाने के लिए इनका बहुत ही सटीक प्रयोग किया है। इसका उद्देश्य एक जटिल अनुभव को ज़्यादा से ज़्यादा संप्रेषणीय बनाना था। जबकि जदीदी (आधुनिकतावादी) शाइर अपने काल्पनिक या वास्तविक अनुभवों को जटिल और रहस्यात्मक बनाने के लिए पहेलीनुमा इमेजरी (Baffling Images) का इस्तेमाल करते हैं। जाफ़री ने 'ख़ामुशी' और इस तरह की अन्य नज्मों में संप्रेषण के एक भिन्न रास्ते को अख़्तियार किया है। दरअसल सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का यही वह रास्ता था जिस पर चलकर जाफ़री अपनी कुछ नज़्मों में मनुष्य की नियति के हवाले से दार्शनिक चिंतन की दिशा की ओर आगे बढ़े हैं। इसका ज़िक्र कुछ आगे आएगा। सरदार जाफ़री की इस युग की शाइरी में एक और रुज्हान जो नुमायाँ हुआ, वह है अंतरराष्ट्रीयतावाद। मनुष्य की नियति और उसकी समस्याओं से वैश्विक धरातल पर आकर जुड़ने का भाव। यह सही है कि साम्यवादी विचारधारा में भी इस भाव की अहमियत रहती है। विश्वशांति के आंदोलन में भी इसकी भूमिका असंदिग्ध है। लेकिन वहाँ मैत्री और एकता के सरोकारों का केंद्र सर्वहारा वर्ग था जबकि दुनिया के अवाम सिर्फ़ सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग में ही विभाजित नहीं रहे हैं। रंग और नस्लभेद एवं धार्मिक फूटवाद ने एक ओर शोषण व उत्पीड़न के रास्ते खोले हैं तो दूसरी ओर मनुष्य और मनुष्य के बीच ऐसी दीवारें भी खड़ी कर दीं जिन्हें राजनीतिक नज़रिए और लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ भी तोड़ नहीं सकीं। फिर कुछ ऐसे कष्ट और विपत्तियाँ होती हैं जो नस्लों और वर्गों की क़ैद से बाहर होती हैं। सारी इन्सानी बिरादरी के दुःख-दर्द को अपनाने के इस रुज्हान का कारण यह भी हो सकता है कि सरदार जाफ़री के कवि-मानस पर संत कबीर, मीराँबाई और अन्य मानवतावादी रचनाकारों का प्रभाव गहरा होता जाता है। नज़्म 'तीन शराबी' में इंसानी भाईचारे का जज़्बा हावी रहता है। नज़्म में मास्को के एक शराबख़ाने में अपनी भिन्न धार्मिक पहचान रखने वाले लोग जब खुलकर मिलते हैं, अपनी तनहाई और बेगानगी के कवच से बाहर निकलते हैं तो वे आपसी प्रेम और मानवीय ऐक्य के भाव से ओत-प्रोत नज़र आते हैं—

इश्क़ो तरब[1] की मेहबूबाएँ
नश्शए-मै की दोशीज़ाएँ

1. हर्ष, खुशी

हाफ़िज़ो-ग़ालिब की ग़ज़लें
पुश्किन और टैगोर की नज़्में
कितनी शीरीं और लैलाएँ
कितने राँझे कितनी हीरें,
मशरिक़ो-मग़रिब[1] की तक़दीरें
हल्क़ा बाँधे नाच रही थीं
मैंने उस नाज़ुक लम्हे में रूहे बशर को नाज़ाँ[2] देखा
प्यार का जज़्बा रक्साँ[3] देखा
सारे जहाँ को ख़ंदाँ[4] देखा

इस युग में जाफ़री ने नज़्मों के अलावा ग़ज़लें भी बहुत लिखीं है। इसका कारण शायद यह है कि युद्ध के महाविनाश के प्रभाव से उनके भीतर जो नई चेतना उत्पन्न हुई थी और युद्ध की पृष्ठभूमि में मानवीय रिश्तों की जो नए सिरे से उन्होंने तलाश शुरू की थी, इसके लिए ग़ज़ल का गेय फ़ॉर्म बहुत उपयुक्त था। निस्संदेह यह उनके सफ़र की एक नई मंज़िल थी। एक ग़ज़ल के चंद अशआर देखिए:

लेकर फिर क़दीले मुहब्बत उतरो दिल के अँधेरे में
रूह की तारीकी को रोशन करती नहीं सूरज की किरन
काबा-ए-दिल में बैठे हैं अब सदियों के फ़सूर्दा बुत
रंगो-नस्लो-शेख़ो-बिरहमन, मज़हबो-मिल्लतो-मुल्को-वतन
ये दुनिया गुमराह है अब तक फिर बोलो ऐ संत कबीर
एक ही सोने के सब गहने हैं, एक ही मिट्टी के बर्तन
एक ही नूर है सब शोलों में, एक ही रस सब मेवों में
अपने मुँह को मीठा कर लो, कर लो आँखों को रोशन
एक परिस्ताँ की सब परियाँ एक गुलिस्ताँ के सब फूल
नीले-नीले, पीले-पीले, ऊदे-ऊदे पैराहन

पूरी ग़ज़ल पर एक ही मूड तारी है, वह है मानवमात्र की एकता का भाव।

दूसरी ग़ज़लों में भी शाइर का यही अनुभव नए प्रतीकों के माध्यम से सामने आता है। कुछ शे'र देखिए—

1. पूर्व और पश्चिम, 2. गौरवान्वित, 3. नृत्य में लीन, 4. आह्लादित

ये ज़मीं मेरी ज़मीं है, ये फ़लक मेरा फ़लक है
इन्हें सैद कर चुकी हैं, मिरे फ़िक्र की कमदें
ज़ख़्मी सरहद, ज़ख़्मी क़ौमे, ज़ख़्मी इनसाँ ज़ख़्मी मुल्क
हर्फ़े हक़ की सलीब उठाये कोई मसीह तो आए अब
सिपाहे-दुश्मने-इनसानियत क़रीब आई
दयारे-हुस्न सरे रहगुज़र की ख़ैर मनाओ
चली है आतिशो-आहन[1] के दिल से बादे-समूम[2]
चमन के जल्वए-गुलहाएतर की ख़ैर मनाओ

एक और नज़्म है 'शऊर' जिसमें नये प्रतीकों के ज़रिए नई छवियों को उकेरा गया है। यहाँ शाइर विश्वदृष्टि और भ्रातृत्व की भावना से संपन्न होकर सोच के नए आयामों पर पहुँचता दिखाई देता है। वह अपनी वैज्ञानिक दृष्टि और इतिहास-चेतना से कहीं भी दूर नहीं होता। लेकिन इस सृष्टि में मानवीय अस्तित्व की अर्थवानता की खोज में ज़रूर डूबा रहता है। जीवन और मृत्यु के शाश्वत प्रश्न भी अब उसे उद्वेलित करते हैं। आख़िर मनुष्य की संस्कृति और उसके द्वारा अर्जित ज्ञान-विज्ञान के कारवाँ किस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं? उनकी मंज़िल क्या है? इन प्रश्नों पर सोच-विचार करती हुई जाफ़री की इन नज़्मों की बनावट बहुत प्रतीकात्मक है। इन रचनाओं में पाठक एक नए प्रतीक-विधान से परिचित होता है—

ये मशरिक़ो-मग़रिब शुमालो-जुनूब[3] पस्तो-बुलंद
लहू में ग़र्क़ हैं और शशजहात[4] का आहंग[5]

ज़मीं की पैंग तुलूए-नुजूमो-शम्सो—क़मर[6]
गुरूबे-शाम[7] ज़वाले-शबो-नुमूदे—सहर[8]

तमाम आलमे-रा'नाई, बज़्मे—रा'नाई
कँवल की तरह खिले हैं लहू की झीलों में
मैं इक नुक़्ता सरे काइनात वहमो—शऊर

1. आग और पत्थर, 2. ज़हरीली हवा, 3. पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, 4. तमाम दुनिया, 5. आवाज़, 6. तारों, सूर्य और चंद्रमा का उदय, 7. शाम का ढलना, 8. रात का बीतना और सुबह का होना

मैं एक क़तरा अनलबहर[1] है सदा मेरी
मैं काइनात में तनहा हूँ आफ़ताब की तरह
मिरे लहू में रवाँ वेद भी हैं क़ुरआँ भी
शजर[2] हजर[3] भी हैं, सेहरा भी हैं गुलिस्ताँ भी
कि मैं हूँ वारिसे-तारीख़े-अस्न इंसानी
क़दम-क़दम पे जहन्नुम, क़दम-क़दम पे बहिश्त

दृष्टि और कला का यही रूप सरदार जाफ़री की इस दौर की दूसरी नज़्मों में विद्यमान है। मिसाल के तौर पर 'आबला पा', 'मेरा सफ़र', 'बरहना फ़क़ीर', 'अमानते-ग़म' और अनेक छोटी नज़्मों के नाम लिए जा सकते हैं। इन नज़्मों को पढ़कर साफ-मालूम होता है कि जिस तरह एक आलोचक के रूप में उन्होंने प्रगतिशील साहित्य से लेकर इक़बाल और 'पैग़ंबराने सुख़न' तक अपनी पहुँच बनायी, उसी तरह एक सुखनवर के रूप में उन्होंने बुलंद और जोशीले लहजे से शुरूआत करके एक नर्म, ठहरे हुए और व्यंजकतापूर्ण लहजे तक का मुश्किल रास्ता तय किया।

'मेरा सफ़र' में कहते हैं—

मैं एक गुरेज़ाँ लम्हा हूँ
अय्याम[4] के अफ़्सूँ ख़ाने[5] में
मैं एक तड़पता क़तरा हूँ
मसरूफ़े-सफ़र जो रहता है
माज़ी की सुराही के दिल से
मुस्तक़बिल के पैमाने में

प्रो. ज़ाहिदा ज़ैदी ने कलात्मक परिष्कार की दृष्टि से 'मेरा सफ़र' नज़्म को जाफ़री की सर्जना का शिखर कहा है। इसमें मानवीय जीवन को सेहरा के सफ़र से ताबीर किया गया है और बकौल प्रो. ज़ैदी इन्सान को वक़्त का मेहमान बताया गया है। यह सफ़र तरह-तरह की आज़माइशों के साथ-साथ सुखद क्षणों के रास्तों से होकर गुज़रता है। उच्चाशय कल्पना और अनुभूति की तीव्रता से नज़्म में ग़ज़ब की रवानी पैदा कर दी गई है जो पाठक को अपने साथ बहा ले जाती है।

1. मैं समुद्र हूँ, 2. पेड़, 3. पत्थर, 4. काल, समय, 5. जादूघर

शाइर इसी सफ़र को दर्द का सेहरा और धूप का जंगल कहता है। वह देखता है कि हर ख़्वाब के नेज़े पर ख़्वाबों का गुलिस्ताँ है। वह सदियों से क़ाफ़िलों की घंटियों की आवाज़ सुनता है। नज़्म का अंतिम बंद देखिए—

फूलों के कटोरों में
शबनम की गुलाबी है
और बादे-सहरगाही
बदमस्त शराबी है
कल सुबह के दामन में
तुम होगे न हम होंगे
बस रेत के सीने पर
कुछ नक़्शे-क़दम होंगे
साए में दरख़्तों के
फिर लोग बहम होंगे
किस देस से आते हैं
किस देस को जाना है
ऐ वक़्त के मेहमानो
ऐ शम्ए-तमन्ना पर
जलते हुए परवानो!
ऐ सोख़्ता सामानो[1]!

नज़्म की संरचना एक सौंदर्यात्मक अन्विति और वैचारिक इकाई में ढली नज़र आती है तो पाठक के दिलो-दिमाग़ पर दीर्घकालिक प्रभाव छोड़ जाती है।

डॉ. मुहम्मद अली सिद्दीक़ी का यह विचार भी सच्चाई के बहुत निकट है कि सरदार अंतिम दौर की शाइरी में जनांदोलनों और राजनीतिक सक्रियता से सचेत रूप से बचाव करने के कारण ज़्यादा मिठास भरे और मख़मली डिक्शन की तरफ़ आ गए। लिखते हैं—

"सरदार जाफ़री ने 'लहू पुकारता है' में शामिल 1956 की शाइरी के बाद ही 'जोश' के प्रभाव से बाहर निकलने की कामयाब कोशिश की। यही वह मोड़ है जब उनके यहाँ उपमाओं की जगह प्रतीकों और तथ्यात्मकता की जगह

1. वे जिनके दिलों में आग है

सांकेतिकता का समावेश बढ़ता जाता है। 'नवंबर मेरा गहरवारा' जो शायद अभी तक अधूरी है, इस दायरे को पूरा करती है। मेरा ख़याल है कि सरदार जाफ़री ने इस अर्से में पाब्लो नेरूदा और भक्ति आंदोलन के कवियों का सबसे ज़्यादा असर क़ुबूल किया है।''

—(अली सरदार जाफ़री नम्बर, 'अफ़्क़ार', कराची, पृ. 470)

सच तो यह है कि सरदार जाफ़री की जो शाइरी सक्रिय राजनीति के प्रभाव में सामने आई, वह जोशीले लहजे के बावजूद सांकेतिक डिक्शन से ख़ाली नहीं है। जाफ़री ने एक जगह संस्कृत काव्यशस्त्र के रस सिद्धांत पर विचार करते हुए लिखा है कि क्रोध और जुगुप्सा की भी आला शाइरी में जगह है। घृणा का प्रचार सही न हो लेकिन इन्सान की ज़िंदगी और शाइरी दोनों में क्रोध, प्रतिरोध और क्षोभ एक मुक़ाम रखते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'महाभारत' और फ़िरदौसी के 'शाहनामा' में भी इन रसों की कमी नहीं है। यही सूरते हाल प्रगतिशील साहित्य की है। जो रचनाकार इन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति में सर्जनात्मक कौशल से काम लेते हैं, वहाँ वे सफल होते हैं अन्यथा इश्क़िया शाइरी हो या प्रतिरोधात्मक, वह भावनात्मक उत्तेजना (Sensationalism) की हद से आगे नहीं बढ़ पाती। इस कोण से देखें तो सरदार जाफ़री की बाज़ लम्बी कविताएँ मसलन 'नई दुनिया को सलाम' और 'एशिया जाग उठा' में ऐसे अंश (बंद) कम नहीं हैं जो शाइर के सतत (Sustained) सर्जनात्मक रवैए की वजह से श्रेष्ठ कविता का नमूना बन गए हैं जो सृष्टि के व्यापक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के सनातन संघर्ष को सामने लाते हैं। मसलन यह बंद देखिए :

ये आदमी की गुज़रगाह शाहराहे-हयात[1]
हज़ारों साल का बारे-गिराँ[2] उठाए हुए
गुज़रते वक़्त के गर्दो-गुबार के नीचे
हसीन जिस्म की ताबिंदगी छुपाए हुए
गुज़िश्ता दौर की तहज़ीब की मनाज़िल[3] को
जवान माँ की तरह गोद में सुलाए हुए
नए उफ़क़ से नए क़ाफ़िलों की आमद है
चिराग़े-वक़्त की रंगीन लौ बढ़ाए हुए

1. जीवन का राजमार्ग, 2. भारी बोझ, 3. मंज़िल का बहुवचन।

बग़ावतों की सिपह, इनक़िलाब के लश्कर
ज़मीं पे पाँव, फ़लक पर नज़र जमाए हुए

मुझे एहसास है कि सरदार जाफ़री की शाइरी की विकास-यात्रा का यह जायज़ा इतना विस्तृत नहीं है कि उनकी काव्यकला के हर पहलू को अपने भीतर समेट सके। इसके लिए विस्तृत अध्ययन और अनुभव की ज़रूरत थी जिसकी सहायता से उनके चिंतन और कला के अन्य पहलुओं और सरोकारों को सामने लाया जा सकता। इसके बावजूद उनके कुल्लियात (समग्र) के अवलोकन के बाद यह तथ्य मेरे सामने आया कि इक़बाल और 'जोश' के बाद बीसवीं सदी जिन बड़े शाइरों को क़ुदरत ने श्रेष्ठ कोटि की प्रतिभा और सहृदयता प्रदान की, उनमें अली सरदार जाफ़री का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। संभव है इस बात में विरोधाभास नज़र आए लेकिन मेरा ख़याल है कि रचनात्मक तेजस्विता की दृष्टि से उनके नामवर समकालीनों में फ़ैज अहमद फ़ैज़, अख़्तरुल ईमान, फ़िराक़ गोरखपुरी और अहमद नदीम क़ासमी से ही उनकी तुलना की जा सकती है। हालाँकि इनमें से हर एक की निजी पहचान है। अपना ख़ास रंग है। इनकी प्रेरणाएँ और सोच भी भिन्नता लिए हुए हैं। यह भी हुआ है कि इनकी शाइरी पर एक-दसूरे के रंगों की छाया भी पड़ती रही है। किसी ने सीधे चलते हुए लम्बी दूरी तय कर ली और कोई ऊर्ध्वमुखी होकर ज़्यादा ऊँचाइयों पर पहुँच गया। किसी ने अपनी शाइरी को डिक्शन के एक ख़ास दायरे में सुरक्षित रखने की कोशिश की तो किसी ने (जाफ़री ने) अपने डिक्शन और सरोकारों का Range नित नए अनुभवों की आँच में और ज़्यादा विस्तृत बनाया और ऐसा करते हुए अपनी निजता के विलीन होने का ख़तरा भी मोल लिया।

ग़रज़ यह कि सरदार जाफ़री ने अपने नामवर समकालीन रचनाकारों के साथ चलते हुए बीसवीं सदी की उर्दू शाइरी को नई मंज़िलों और नई ऊँचाइयों पर पहुँचाने का दायित्व निर्वाह किया।

आलोचकीय प्रतिभा

सरदार जाफ़री की बुनियादी हैसियत और पहचान एक शाइर की है और निस्संदेह रूप से प्रगतिशील काव्य-परंपराओं और समकालीन काव्य-प्रवृत्तियों के निर्माण में उनका महनीय योगदान रहा है। लेकिन अपने युग के कमोबेश तमाम शाइरों से वे इस लिहाज़ से भिन्न और विशिष्ट हैं कि साहित्य के आकलन-विश्लेषण और एक आलोचक के रूप में समकालीन लेखन को एक दिशा देने में भी उनकी प्रमुख भूमिका रही है। एक मार्क्सवादी अधीती की हैसियत से उन्होंने न केवल इस धारा के साहित्य का अवगाहन किया था बल्कि इतिहास, संस्कृति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के साथ-साथ विश्वसाहित्य की महान कृतियों को गहराई से समझा था। वे फ़ारसी तथा अंग्रेजी भाषाओं पर अच्छा अधिकार रखते थे और इन दोनों भाषाओं के माध्यम से ही उन्होंने पूर्व और पश्चिम के श्रेष्ठ साहित्य को बड़ी लगन से पढ़ा और परखा था। वे एक दृष्टि-संपन्न और विवेकशील व्यक्ति थे, इसलिए हर विषय पर उनके लेखन और मौखिक वक्तव्यों में तार्किकता एवं गंभीरता रहती थी। जेल जीवन के दौरान भी उनके अध्ययन-लेखन का क्रम उसी तरह जारी रहता था जिस तरह काव्य-रचना में उनकी लगन रहा करती थी।

इस सिलसिले में दो बातें और ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह कि कम्युनिस्ट पार्टी से उनकी गहरी संबद्धता ने उन्हें शुरू से ही जुझारू बना दिया था। इसलिए सामाजिक कार्यों और राजनीतिक गतिविधियों में वे बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे और हालाँकि उन्होंने सामंती वातावरण में परवरिश पाई थी और विलासिता की ज़िंदगी बसर की थी लेकिन उपनिवेशवादी दौर में भी वे जेल की यातनाओं से विचलित नहीं हुए। जहाँ तक दृष्टि संबंधी समस्याओं की बात है, वे एक विवादास्पद रुजहान भी रखते थे जिसकी ओर सज्जाद ज़हीर और उनके अन्य साथियों ने

संकेत किया है। वे मार्क्सवादी विचारों और अपने राजनीतिक प्रयोजन का औचित्य ठहराने के लिए हमेशा झगड़ने को तैयार रहते थे। हार मुश्किल से मानते थे। दूसरी और अंतिम बात यह है कि पत्रकारिता के व्यावहारिक जुड़ाव के कारण वे समकालीन साहित्य के धारों और सरोकारों से भलीभाँति परिचित थे। 'नया अदब' (लखनऊ), 'क़ौमी जंग' और 'गुफ़्तगू' (बम्बई) का उन्होंने संपादन किया। इसके साथ दूसरे पत्र-पत्रिकाओं में भी वे लिखते रहे।

सरदार जाफ़री के बहुमुखी ज्ञान, बौद्धिक जद्दोजहद और मार्क्सवादी दर्शन पर असाधारण अधिकार के पेशेनज़र उनकी विद्वत्ता पर संदेह नहीं किया जा सकता। लेकिन 'तरक़्क़ी पसंद अदब', कुछ निबंधों और भाषणों के अलावा उनकी कोई ऐसी बड़ी किताब सामने नहीं आई जिस में आलोचना के प्रतिमान निर्धारित करने की कोशिश दिखाई देती हो। अलबत्ता व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में 'पैग़ंबराने-सुख़न' और 'इक़बाल शनासी' तथा शोध के क्षेत्र में 'सरमाया-ए-सुख़न' उनके सराहनीय कार्य हैं जो उनके मार्क्सवादी आलोचनात्मक दृष्टिकोण के आईनादार हैं। लेकिन इन पर रौशनी डालने से पहले सरदार जाफ़री के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण आलेखों का हवाला भी मुनासिब होगा। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सरदार ने अनगिनत प्रगतिशील तथा भिन्न सोच के दूसरे कवि और लेखकों की पुस्तकों की भूमिकाएँ और समीक्षाएँ भी लिखी हैं। मसलन कृश्नचंदर, मंटो, साहिर लुधियानवी, मजरूह, कैफ़ी आज़मी, ज़ोहरा निगाह और इफ़्तिख़ार आरिफ़ आदि। अगरचे यह भी सच्चाई है कि इनमें प्रशंसा का भाव ज़्यादा नुमायाँ है।

सरदार जाफ़री के गंभीर आलेखों में विशेष रूप से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

1. नौजवानों के अदबी रुजहानात, अलीगढ़ मैगज़ीन, 1936
2. इक़बाल की ग़ज़ल, 'गुफ़्तगू', बंबई, 1977
3. अंदलीबे गुलशने-नाआफ़रीदा, 'ग़ालिबनामा', दिल्ली, 1983
4. तरक़्क़ी पसंद तहरीक की निस्फ़ सदी, निज़ाम खुत्बा, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1987
5. चिराग़े-लाला, जाफ़री नम्बर, 'अफ़्कार' कराची
6. पाब्लो नेरुदा की शख़्सियत, जाफ़री नम्बर, 'अफ़कार', कराची
7. ज़ौक़े-जमाल, जाफ़री नम्बर, 'अफ़्कार' कराची
8. लम्हों के चिराग़, 'आजकल' दिल्ली, 1996

इनके अलावा भी सज्जाद ज़हीर और अन्य लेखकों के बारे में उनके लेख और टिप्पणियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अफ़सोस इसका है इन्हें संकलित कर प्रकाशित नहीं किया जा सका है।

''नौजवानों के अदबी रुजूहानात' जाफ़री के बिल्कुल आरंभिक लेखों में से है। इस लेख में उन्होंने अपने समय के नौजवानों की बौद्धिक स्थिति, उपनिवेशवादी पराधीनता को लेकर उनके असंतोष और आक्रोश की तस्वीर खींची है। इसी ज़माने में असरारुल हक़ 'मजाज़' की 'आवारा' प्रकाशित हुई थी। लेख में इस नज़्म के हवाले भी हैं और नौजवान रचनाकारों के सर्जनात्मक प्रयासों को उर्दू अदब के लिए शुभ संकेत के रूप में व्याख्यायित किया गया है। लिखते हैं–

''हर अदब के लिए ज़रूरी है कि वह उस मुल्क की तहज़ीब और समाज की पूरी तरह तर्जुमानी कर सके जिससे उसका तअल्लुक़ है। उर्दू अदब की यह सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि इसमें मुक़ामी रंग बिल्कुल नहीं है जिसकी वजह से वह बजाय ज़िंदगी से क़रीब होने के दूर होता गया है।''

('जाफ़री की नादिर तहरीरें' पृ. 68)

ये दो उद्धरण और देखिए–

''हिंदुस्तान के नौजवानों में इस वक़्त के निज़ाम और मौजूदा ज़िंदगी के ख़िलाफ़ एक ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया उभर रही है जो किसी तरह रोकी नहीं जा सकती।''

(पूर्ववत्, पृ. 72)

''उर्दू के नए रचनाकार आज पुराने रचनाकरों से कई मंज़िल आगे हैं। उनके माथे पर ज़माने की बढ़ती हुई मुश्किलों ने सोच-विचार की गहरी शिकनें डाल दी हैं। ये जाने या अनजाने एक नया रंग अख़्तियार कर रहे हैं। जो साहित्य ये लोग सामने ला रहे हैं वह उनकी उद्विग्नतापूर्ण कैफ़ीयत का नतीजा है।''

(पूर्ववत्, पृ. 70)

यह प्रगतिशील साहित्यांदोलन का बिल्कुल आरंभ था। अख़्तर हुसैन रायपुरी और अख़्तर अंसारी की तरह सरदार जाफ़री भी इस नए साहित्यांदोलन के धुंधले और मुश्किल रास्ते को रोशन बनाने के लिए दौड़-धूप कर रहे थे। सरदार जाफ़री अपने युग के नौजवान रचनाकारों की दुस्साहसिकता और नाराज़गी को सही परिप्रेक्ष्य में रेखांकित कर रहे थे।

अल्लामा इक़बाल सरदार जाफ़री के पसंदीदी शाइरों में से हैं जिनसे लगभग हर दौर में उन्होंने काव्यरचना के संदर्भ में शब्द और अर्थ के मर्म को सीखने

की कोशिश की। 'चिराग़ लाला' और 'इक़बाल की ग़ज़ल' दोनों लेखों में इक़बाल के डिक्शन के हवाले से उनके दर्शन और केंद्रीय प्रतीकों को समझने का प्रयास किया गया है। उन्होंने इक़बाल की शाइरी में 'लाला' के फूल के प्रतीकात्मक आशयों पर बड़ी तैयारी के साथ विस्तारपूर्वक रोशनी डाली है और साबित किया है कि उनके यहाँ 'शाहीन'[1] पराक्रम का मूर्त रूप है और 'लाला' समृद्धि का मूर्त रूप। हिंदू मिथक शास्त्र में जो हैसियत कमल के फूल की है, वही इक़बाल के कलाम में 'लाला' की है। सरदार जाफ़री ने इक़बाल के अनेक शे'रों के उदाहरण से लाला के सांस्कृतिक पक्ष को उद्‌घाटित करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'लाला-ए-आतिश पैरहन'[2] इक़बाल की शाइरी के मानवीय अस्तित्व के वैशिष्ट्य को प्रतीकित करता है। 'अंदलीबे गुलशनेनाआफ़रीदा' में जाफ़री ने रूमी और हाफ़िज़ के विशिष्ट काव्यशास्त्र के हवाले से ग़ालिब की सौंदर्यचेतना और 'हुस्न-परस्ती' को उनके युगीन परिप्रेक्ष्य में समझने की कामयाब कोशिश की है।

'ज़ौक़े-जमाल' इस सिलसिले का पहला लेख है जिसमें जाफ़री ने मार्क्सवादी दर्शन को बुनियाद बनाकर मनुष्य की सौंदर्याभिरुचि के विकास का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। बाद के गंभीर लेखों में भी इसकी साफ़ झलक मिलती है।

सरदार जाफ़री की शाइरी की तरह उनकी आलोचना में छठे दशक के अंतिम दौर तक वैचारिक मताग्रह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। इसके परिणामस्वरूप उस युग के बहुत-से रचनाकारों से, जिनमें प्रगतिशील भी शामिल थे, उनके मतभेद खुलकर सामने आए और बहस के दरवाज़े भी खुले। इसमें अवाम के साहित्य, साहित्य में अवाम के जीवन के प्रतिबिंब और अवाम की भाषा आदि की समस्याएँ शामिल थीं। इसके अलावा साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की समस्याएँ भी थीं जिनको लेकर सरदार जाफ़री सामान्यतः क्रिस्टोफ़र कॉडवेल और प्लेखानोव के विचारों पर निर्भर करते थे। जिन लेखकों से उनके मतभेद हुए उनमें ख़लीलुर्रहमान आज़मी, फ़िराक़ गोरखपुरी और वामिक़ जौनपुरी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यहाँ हम अस्थायी क़िस्म के मसलों और मतभेदों को तो अहमियत नहीं देंगे लेकिन ज़रा समीप से देखने की कोशिश करेंगे कि सरदार जाफ़री आलोचना की ओर क्यों प्रवृत्त हुए और इस क्षेत्र में उनके चिंतन-मनन से जो नतीजे सामने आए उनका किरदार और स्तर क्या था?

हम जानते हैं कि जब कोई महत्त्वपूर्ण रचनाकार आलोचना के कूचे में दाख़िल

1. एक मशहूर शिकारी परिंदा
2. अग्नि जैसे परिधान वाला फूल अर्थात् सुर्ख़ रंग का फूल

होता है तो अक्सर उसकी नीयत और दृष्टि दोनों को संदेह की नज़र से देखा जाता है। इसलिए बड़ा कलाकार अपनी एक अलग सोच को लेकर आता है जो शुरू में लोगों को चौंकाती ही नहीं भड़काती भी है। यह कलाकार जब आलोचना लिखने के लिए लेखनी उठाता है तो लोग कुछ इस तरह सोचते हैं—

1. इसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धियों को चुप करना है
2. अपने फ़न (शाइरी) का लोहा मनवाना है
3. अपनी काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का औचित्य सिद्ध करना है

और देखा यह गया है कि उसकी आलोचना के आरंभिक उत्प्रेरकों में ये तीनों बातें किसी-न-किसी अनुपात में शामिल रहती हैं। चाहे वर्ड्सवर्थ हो या कॉलरिज, ऑस्कर वाइल्ड हो या इलियट या फिर अपने यहाँ हाली और फ़िराक़; सबकी आलोचना के प्रस्थान में वस्तुनिष्ठता कम वैयक्तिकता ज़्यादा रही है। लेकिन सोपान-दर-सोपान आगे बढ़ते हुए इनकी आलोचना वैयक्तिकता से मुक्त होती जाती है और साहित्य-कला की अपेक्षाकृत ज़्यादा जटिल और विस्तृत ज़मीनों की तलाश में सक्रिय हो जाती है। और वह कुछ ऐसी सच्चाइयों की तलाश में सफल होती है जो ग़ैर सर्जनात्मक आलोचक की पहुँच से बाहर होती हैं।

सरदार जाफ़री यों तो विद्यार्थी जीवन से ही साहित्य की समस्याओं पर सोचने और लिखने लगे थे लेकिन आलोचना की बाज़ाब्ता शुरूआत 1950 में उस समय हुई जब प्रगतिशील साहित्यांदोलन अपने पहले सुनहरे दौर को पार कर चुका था और स्वयं सरदार जाफ़री इसके एक प्रतिनिधि और हर दिल अज़ीज़ शाइर के रूप में अपनी पहचान बना चुके थे। हालाँकि उस समय उनकी शाइरी की उम्र चौदह-पंद्रह वर्ष से ज़्यादा नहीं थी लेकिन अपने नए सोच व भाषा-संस्कार की दृष्टि से वे वह पूर्ववर्ती ही नहीं, समकालीन शाइरों से भी अलग पहचानी जाती थी। इसलिए जब उनकी किताब 'तरक़्क़ी पसंद अदब' प्रकाशित हुई तो प्रगतिशील समुदाय से बाहर इस किताब को प्रगतिशील साहित्यांदोलन और इसकी विचारधारा का आईना बताया गया। वहीं दूसरी ओर प्रगतिशील समुदाय के भीतर इसे एक विवादास्पद दस्तावेज़ का दर्जा हासिल हुआ और यह स्वाभाविक भी था। इसलिए कि उस समय तक प्रगतिशील साहित्य की धारणा पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुई थी, बहुत-से रचनादर्शों को लेकर अंतर्विरोधपूर्ण स्थिति बनी हुई थी और जैसा कि कहा जा चुका है इनको लेकर बहस जारी थी। लेकिन आंदोलन को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए आख़िर यह ख़तरा तो किसी-न-किसी को मोल लेना ही था। सरदार जाफ़री चूँकि शुरू से ही इसके कर्मठ कार्यकर्ता थे और

इसके दस्तावेज़ों और पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करने में अहम रोल अदा करते थे, इसलिए यह ज़िम्मेदारी भी उनके ऊपर ही आई और यह ख़तरा उन्हें ही उठाना पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि जहाँ तक प्रगतिशील साहित्यांदोलन के बुनियादी या बीज-विचारों की व्याख्या का सवाल था, उन्होंने बड़ी मेहनत और लगन से इसका हक़ अदा करने की कोशिश की है। इसके बावजूद अगर खुद सरदार जाफ़री को इस क़िताब का हीरो क़रार दिया गया तो इसमें कोई डर नहीं था।

इस किताब पर सबसे ज़्यादा तीखी आपत्तियाँ ख़लीलुर्रहमान आज़मी ने कीं जो 1948 तक खुद बड़े जोशीले प्रगतिशील थे। सिर्फ़ यही नहीं वे सरदार जाफ़री की शैली के सबसे बड़े अनुसरणकर्ता थे जिसका सबूत उनकी लम्बी राजनीतिक कविता 'आईनाख़ाना' है जो किताबी सूरत में प्रकाशित हुई थी। 1949-50 में ख़लीलुर्रहमान आज़मी क़ैद से रिहा हुए तो कतिपय अन्य नौजवानों की तरह वे प्रगतिशील विचारों से रुष्ट हो गए।

यहाँ यह सच्चाई याद रखने की है कि डॉ. आज़मी ने अपने पी-एच.डी. के शोधप्रबंध 'उर्दू में तरक़्क़ी पसंद अदबी तहरीक' में सरदार जाफ़री पर जो आपत्तियाँ की हैं उनमें से अधिकांश दो लेखों को लेकर हैं जो जाफ़री ने विद्यार्थी जीवन यानी 1936 से 1939 के बीच में लिखे थे और जिनमें अख़्तर हुसैन रायपुरी की तरह एक अतिवादी रवैया अख़्तियार किया गया था। इसलिए इन आपत्तियों की स्थिति ऐसी ही है जैसे ख़लीलुर्रहमान आज़मी की शाइरी पर चर्चा करते हुए उनके विद्यार्थी जीवन की शाइरी से उदाहरण दिए जाएँ। यहाँ यह भी अर्ज़ कर दूँ कि जहाँ तक सरदार जाफ़री की कृति 'तरक़्क़ी पसंद अदब' का संबंध है, डॉ. आज़मी की अधिकांश आपत्तियाँ एक सोचे-समझे विरोधी रवैए का परिणाम हैं। सिर्फ़ यही नहीं उन्होंने सरदार जाफ़री के बाज़ बयानों को संदर्भ से अलग करके पेश किया है।

डॉ. आज़मी लिखते हैं—

"जाफ़री ने अपने स्व का जो तिलिस्म खड़ा किया है, वह उस आत्मकेंद्रीयता और आत्ममुग्धता को और भी आगे ले जाता है। चूँकि वे अवाम के लिए अवाम ही की भाषा में सीधे-सीधे शाइरी करते हैं इसलिए वे सिर्फ़ फ़ैज़ ही पर बरतरी नहीं रखते बल्कि..."

"हम अपने वरिष्ठ पूर्ववर्तियों से ज़्यादा खुशकिस्मत हैं कि हमारे सुनने और पढ़ने वालों का दायरा ज़्यादा व्यापक है और आज ऐसे हालात पैदा हो गए

हैं कि आर्ट और अदब ज़्यादा से ज़्यादा इंसानों तक पहुँच सकता है।''

—(*'तरक़्क़ी पसंद अदब', जाफ़री पृ. 71)*

यानी यहाँ वरिष्ठ पूर्ववर्तियों से भी बरतरी या श्रेष्ठता दिखाई गई है जो कि जाफ़री का अभीष्ट नहीं है।

सरदार जाफ़री ने उपर्युक्त गद्यांश में उन नए वस्तुगत हालात, शिक्षा और प्रकाशन-प्रसारण के नए साधनों की ओर संकेत किया है। लेकिन डॉ. आज़मी ने इसे सरदार जाफ़री की नीयत का खोट समझ कर इसकी भर्त्सना कर डाली। कुछ यही नुअय्यत उनकी दूसरी आपत्तियों की है। बहरहाल यहाँ मेरा उद्देश्य स्वर्गीय आज़मी की आपत्तियों का जवाब देना नहीं है बल्कि सरदार जाफ़री की आलोचना-दृष्टि को समझना है।

जहाँ तक स्वयं सरदार जाफ़री के इस किताब में उपस्थित होने की बात है, इसके तीन पहलू हो सकते हैं। एक यह कि जाने या अनजाने सरदार जाफ़री ने इसे अपनी शाइरी को उचित ठहराने का ज़रिया बनाया। दूसरे यह कि रचनाकार के रूप में जाफ़री इस अध्ययन से अपने-आप को दूर नहीं रख सके। और तीसरे यह कि प्रगतिशील आंदोलन के एक समर्पित कार्यकर्ता एवं मार्गदर्शक होने की बिना पर उन्होंने किसी अकादमिक अध्ययन के बजाय इस आंदोलन के नज़रियों की ज़ोरदार वकालत का दायित्व निभाया। सच्चाई यह है कि ये तीनों ही पहलू एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और तीनों में किसी न किसी रूप में ईमानदारी का भाव निहित है। देखना यह है कि स्वयं सरदार जाफ़री की दृष्टि में इस कृति का प्रयोजन क्या है? उनके शब्दों में :

''मेरी किताब का विषय दृष्टिकोण संबंधी बहसों, प्रगतिशील आंदोलन के प्रेरक तत्त्वों और रुजूहानों तक मेहदूद है, इसलिए बेशतर रचनाकारों का ज़िक्र हवालों और मिसालों की शक्ल में आया है।''

प्राक्कथन में दूसरी जगह लिखते हैं—

''वास्तव में मैंने आलोचक के कर्तव्यों का पालन नहीं किया है क्योंकि मुझे आलोचक होने का दावा नहीं है। मैंने खुद एक अदीब और शाइर की हैसियत से इस आंदोलन के बारे में जो कुछ महसूस किया है, जो मुझे सबसे ज़्यादा अज़ीज़ है और जिससे मेरा शुरू से बहुत क़रीबी तअल्लुक़ रहा है, उसको काग़ज़ पर उतार दिया है।''

ज़ाहिर है कि सरदार जाफ़री यहाँ इस आंदोलन और इसके उद्देश्यों से व्यक्तिगत संबद्धता या कमिटमेंट को स्वीकार कर रहे हैं। लेकिन इससे आगे

उन्होंने यह भी कहा है कि उन्होंने अपने अध्ययन को यथा संभव वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ रखना चाहा है। यह भी सच है कि उनके द्वारा प्रस्तुत आकलन और विश्लेषण प्रगतिशील साहित्यांदोलन के वैचारिक परिप्रेक्ष्य और प्रवृत्तियों को अपने भीतर समेट लेता है। इस लिहाज़ से निश्चय ही यह उर्दू में 'मुक़द्दमा-ए-शे'रो-शाइरी' के बाद अपने ढंग की पहली कृति है। हमें यह मानने में हिचक नहीं करना चाहिए कि उर्दू में पहली बार वैचारिक पक्षधरता रखने वाला उद्देश्यपरक साहित्य सर सैयद की तहरीक से प्रभावित होकर लिखा गया और हाली ने 'मुक़द्दमा' लिखकर उसकी सैद्धांतिक और सौंदर्यशील बुनियादें तलाश कीं। जाफ़री ने भी इसी दायित्व का निर्वाह किया। (हालाँकि दोनों की स्थापनाएँ गंभीर आपत्तियों का निशाना बनीं) प्रगतिशील आंदोलन क्योंकि सिर्फ़ उर्दू का आंदोलन नहीं था बल्कि व्यापक राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय आंदोलनों से इसका रिश्ता था। इसलिए सरदार जाफ़री ने ज़्यादा व्यापक परिप्रेक्ष्य में यथार्थ-चित्रण के इस रुजूहान या नई शैली के उद्देश्यपरक साहित्य की सविस्तार व्याख्या की है। उन्होंने इसकी सामाजिक प्रासंगिकता के साथ साथ इसके सौंदर्यात्मक पहलू पर भी रोशनी डाली है। यह काम उन्होंने बड़े प्रामाणिक ढंग से किया और आंदोलन से जुड़ाव के बावजूद उनकी यह कोशिश रही है कि आंदोलन की सबसे बड़ी देन यानी बुद्धिवाद और वस्तुनिष्ठ नज़रिए का दामन हाथ से न छूटे। उस समय तक सैयद एहतिशाम हुसैन, मजनूँ गोरखपुरी, अख़्तर अंसारी और मुम्ताज़ हुसैन ने अपने आलोचनात्मक लेखों में जिन नए प्रतिमानों के चिह्न उभारे थे, सरदार जाफ़री ने इन्हें ज़्यादा स्पष्ट और व्यवस्थित रूप देकर प्रस्तुत करने की कोशिश की। किताब के चौथे अध्याय तक यह सारी बहस ख़त्म हो जाती है। अंतिम दो अध्यायों में प्रगतिशील साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का जायज़ा लिया गया है। यहाँ मेरा उद्देश्य हाली और जाफ़री की तुलना करना हरगिज़ नहीं है। कहना सिर्फ़ यह है कि ये दोनों किताबें दो बड़े आंदोलनों की पृष्ठभूमि में लिखी गयीं, दोनों ने हमारे साहित्य में नए मूल्यों और रुजूहानों का पोषण किया। साहित्य को बदलते हुए सामाजिक जीवन की अपेक्षाओं से हम आहंग किया। दोनों ने यथासंभव वस्तुवादी दृष्टि पर ज़ोर देने के बावजूद स्वयं को केंद्र में रखा और अपने काव्य-हेतु को उजागर किया। (इसके बग़ैर वे अपने विचारों को इतने प्रभावशाली रूप में व्यक्त नहीं कर सकते थे।) सरदार जाफ़री की किताब ज़्यादा कलहपूर्ण इसलिए ठहरी कि उन्होंने समकालीनों से उदाहरण दिए थे और प्रगतिशील साहित्य के मूल्यांकन में बाज़ रचनाकारों की कड़ी आलोचना की थी। उनके कुछ निर्णय अगर उचित हैं तो कुछ में उनका

आक्रामक रवैया साफ़-साफ़ झलकता है। मसलन सआदत हसन मंटो की कुछ कहानियों को अगर फ़हश और मरीज़ाना मान लिया जाए तब भी उन्हें ग़लाज़त निगार कहना या उन्हें मानवीय प्रेम से विहीन रचनाकार बताना, आलोचना का संकीर्णतावादी अंदाज़ था जिसे सरदार जाफ़री ने जारी रखा।

लेकिन सरदार जाफ़री की आलोचना पद्धति के बारे में ख़लीलुर्रहमान आज़मी का यह बयान की पक्षपातपूर्ण है कि 'यह आलोचना प्रगतिशीलता और शाइरी दोनों को अपने स्तर पर लाना चाहती है कि सबसे ऊँचे ओहदे पर जाफ़री को बिठा दिया जाए।' इसलिए कि स्वस्थ सामाजिक एवं वैचारिक रवैयों के प्रति आग्रह सरदार जाफ़री की कमज़ोरी नहीं थी, यह मताग्रह उस समय की वैश्विक प्रगतिशील आलोचना की एक आम प्रवृत्ति थी। स्टालिन के दोर में सोवियत रूस के विद्वान् A.A. Zhadanov ने साम्यवादी यथार्थ चित्रण का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, उसने ग़ैर साम्यवादी देशों के साहित्यकारों में ख़ासा भ्रम फैलाया। यूरोप में क्रिस्टोफ़र काडवैल भी अतिवाद के इस मैकानिकी नज़रिए को लेकर चल रहे थे। सरदार जाफ़री भी उनसे प्रभावित थे। हमारे यहाँ पहली बार मुम्ताज़ हुसैन ने हंगरी के चिंतक जार्ज लूकाच की तरह (जो सोवियत यूनियन में उत्पीड़ित रहे) साहित्य की समस्याओं पर सीधे-सीधे राजनीति से हटकर दार्शनिक दृष्टिकोण से सोच-विचार की नींव डाली। सरदार जाफ़री ने बेलिंस्की, गोर्की, मोरिस डाब और खुद लेनिन के साहित्य-कला-संबंधी विचारों से लाभ उठाया। इस तरह उन्होंने बीसवीं सदी की ऐतिहासिक परिस्थितियों के विश्लेषण के माध्यम से जिन साहित्यिक प्रवृत्तियों की निशानदही की है, उनमें एक साफ़ और तर्कसम्मत सोच की सक्रियता देखी जा सकती है। यह बात भी नहीं भुलायी जा सकती कि सरदार जाफ़री ने प्रगतिशील साहित्य के सौंदर्यात्मक आधार को तलाश करने की कोशिश की और कम-अज़-कम इस महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया। सरदार जाफ़री की इन सेवाओं का ज़िक्र करते हुए प्रगतिशील आंदोलन के एक कटु आलोचक प्रो. अबुल कलाम क़ासमी एक निबंध में लिखते हैं--

''जाफ़री का यह मामूली कारनामा नहीं कि उन्होंने साहित्य के सौंदर्यशास्त्र, सामाजिक सरोकार, लेखक की प्रतिबद्धता या ग़ैर प्रतिबद्धता जैसी समस्याओं को बुनियाद बनाकर व्यवस्थित और तर्कसम्मत ढंग से प्रगतिशील साहित्य के लिए एक नए शास्त्र के निर्माण की अहम ज़िम्मेदारी निभायी।''

—('सरदार जाफ़री : शख़्सियत और फ़न' पृ. 159)

उन्होंने अपने इस प्रयास का प्रस्थानबिंदु प्रेमचंद के उस अध्यक्षीय भाषण

को बनाया है जिसमें उन्होंने कहा है, 'हमें सौंदर्य का मानदंड बदलना होगा।' उस समय तक दुनिया के विख्यात मार्क्सवादी चिंतकों ने भी इस समस्या पर गहराई से ग़ौर नहीं किया था। हमारे यहाँ अख़्तर अंसारी ने साहित्य में सौंदर्य को उपयोगिता से जोड़कर एक चौंका देने वाली धारणा प्रस्तुत की थी। सरदार जाफ़री ने प्लेख़ानोव के हवाले से मनुष्य की सौंदर्याभिरुचि के स्रोतों का सुराग़ लगाने की कोशिश की। सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों और समाज के विभिन्न वर्गों की रुचियों के भेद को भी उन्होंने रेखांकित किया। सौंदर्य के वर्गीय आधार पर ज़ोर देने के बावजूद उन्होंने इसके निजी पहलू की अहमियत को अनदेखा नहीं किया। लिखते हैं, ''संस्कृति के एक स्तर पर भी दो आदमी ऐसे नहीं मिलेंगे जिनके सौंदर्यात्मक संवेदन एक जैसे हों।'' सौंदर्यानुभूति की इस निजी पहचान को उन्होंने विरोधाभासपूर्ण सामाजिक प्रक्रियाओं में तलाश किया है।

इस तरह सरदार जाफ़री का यह विचार भी समीचीन है कि 'जब तक रचनाकार और उसके पढ़ने वालों के बीच साझा सौंदर्यमूल्य नहीं होंगे, इन दोनों की सौंदर्याभिरुचियाँ आपस में मिलेंगी नहीं, तब तक न साहित्य का आस्वादन किया जा सकता है न उसे समझा जा सकता है।'

जाफ़री की किताब 'तरक़्क़ी पसंद अदब' ने कम-अज़-कम दो दशकों तक प्रगतिशील दृष्टिकोण के विकास में प्रभावशाली भूमिका अदा की। आधी सदी पहले लिखी गई इस किताब में आज अगर गहराई की कमी महसूस होती है, तो इसका कारण यही है कि आज की मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि में ज़्यादा सूक्ष्मता और व्यापकता पैदा हो गई है। मार्क्सवादी आलोचना अब बड़ी हद तक मार्क्सवादी धारणाओं की एकायामी व्याख्या से आज़ाद हो गई है। अब प्लेख़ानोव, लूकाच और बर्तोल ब्रेख़्त की कमोबेश सारी किताबें अंग्रेज़ी में मिल जाती हैं। इनके अलावा जैरोम, एडाल्फ़ सांकिजवाज़क्वीज़, ग्राम्शी और विक्टर केरनिन जैसे मार्क्सवादी विचारकों की किताबें भी मिल जाती हैं जो राष्ट्रीय एवं अतरराष्ट्रीय सतह पर साहित्य और संस्कृति की समस्याओं को समझने के लिए एक दार्शनिक और सर्जनात्मक दृष्टि प्रदान करती हैं जिसकी मिसालें नई पीढ़ी के आलोचकों जैसे मुहम्मद अली सिद्दीक़ी, असग़र अली इंजीनियर, डॉ. अतीक़ुल्लाह, डॉ. आग़ा सुहैल, डॉ. शीन अख़्तर, अतीक़ अहमद, डॉ. अली अहमद फ़ातमी और दूसरों के यहाँ देखी जा सकती हैं। स्वयं सरदार जाफ़री की चेतना और आलोचकीय दृष्टि में पिछले पच्चीस वर्षों में बहुत निर्णायक और खुशगवार परिवर्तन आए हैं। गो कि इस दौर में उन्होंने आलोचनात्मक लेखन कम किया है और उन्हें

आलोचक होने का दावा भी नहीं, लेकिन इक़बाल और बाज़ क्लासिकी शाइरों के बारे में उन्होंने जो भूमिकाएँ और आलेख लिखे, वे उनकी नई अंतर्दृष्टि का प्रमाण हैं।

इक़बाल शताब्दी समारोह के अवसर पर सरदार जाफ़री ने इक़बाल के बारे में उर्दू और अंग्रेज़ी में कोई आलेख लिखे। यों तो प्रगतिशील दृष्टिकोण के निर्माण में इक़बाल के चिंतन की अहमियत को उन्होंने अपनी किताब 'तरक़्क़ी पसंद अदब' में भी स्वीकार किया है। लेकिन ऐसा लगता है कि 1955 के बाद इक़बाल को उन्होंने नए सिरे से पढ़ा और एक बार फिर उनकी दृष्टि और कला के बारीक पहलुओं का सुराग़ लगाया जिसका सबूत उनकी इस दौर की शाइरी में भी मिलता है और महसूस होता है कि 'जोश' के बजाय इस दौर में वे इक़बाल के डिक्शन के ज़्यादा समीप रहे हैं।

सरदार जाफ़री ने अपने आलेखों में इक़बाल की अंतरराष्ट्रीयता पर विशेष बल दिया है। इक़बाल ने तीसरी दुनिया विशेष से उर्दू और फ़ारसी भाषी राष्ट्रों को विनाशकारी ताक़तों की साज़िशों से सावधान रहने का जो संदेश दिया, उसकी प्रांसगिकता को सरदार जाफ़री ने खुलकर स्वीकार किया है। सिर्फ़ यही नहीं वे इक़बाल पर पुनर्दृष्टि करते हुए ऐसे विषयों तक पहुँच जाते हैं जिनका संबंध मूल रूप से पराभौतिक समस्याओं से है, जैसे इक़बाल की काल विषयक अवधारणा। सरदार जाफ़री ने इसे हिंदू दर्शन (पुराण साहित्य) की सृष्टि-रचना विषयक अवधारणा से जोड़कर एक शाइराना रूपक बना कर प्रस्तुत किया है।

'इक़बाल शनासी' में तीन आलेख शामिल हैं। इनमें उन्होंने इक़बाल के दार्शनिक चिंतन विशेष रूप से 'ख़ुदी' से संबंधित प्रतीकों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया है, जैसे शाहीन, क़लंदर आदि। सरदार जाफ़री ने लिखा है कि यद्यपि इन प्रतीकों के स्रोत इस्लामी दर्शन में हैं, लेकिन वे नई परिस्थितियों में नये अर्थों से संपन्न हो जाते हैं। किताब का पहला लेख 'शाइरे-मश्रिक़' और दूसरा लेख 'इक़बाल और फ़िरंगी' इस लिहाज़ से महत्त्वपूर्ण हैं कि ये इक़बाल के उच्चाशयपूर्ण विचारों, पूर्व एवं पश्चिम की गहरी कशमकश और उनके क्रांति विषयक नज़रिए को उजागर करते हैं। उन्हांने लिखा है कि इक़बाल उर्दू के पहले चिंतक कवि हैं जो 'इन्क़िलाब' के पारिभाषिक शब्द को समाजार्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इक़बाल के दर्शन की केंद्रीय अवधरणा 'ख़ुदी' का विश्लेषण करते हुए सरदार जाफ़री ने जो संतुलित दृष्टिकोण अपनाया है, उसे दो उद्धरणों से समझा जा सकता है–

''इक़बाल ने दुनिया के भौतिक अस्तित्व को एक यथार्थ की तरह स्वीकार किया है इसलिए दुनिया से उदासीनता का सवाल ही पैदा नहीं होता। बल्कि पानी से बिजली, सितारों से रोशनी और धरती से अन्न एवं दौलत हासिल करना 'ख़ुदी' का हक़ है। (कर्म व संघर्ष का दर्शन) लेकिन इस ख़ुदी की ऊँची निगाह आसमान के नीचे ही नहीं बल्कि सितारों से आगे जहाँ और भी हैं।''

''इक़बाल ने एक बड़े कलाकार की तरह इस ख़ुदी की रूह को काइनात के ज़र्रे-ज़र्रे में फूँक दिया। अतएव चाँद, सूरज, सितारे, दरिया, पहाड़, फूल, हवाएँ, समंदर, बयाबान, चिड़ियाँ, जानवर सब इस भाव से ओतप्रोत हैं। ख़ुदी कमज़ोर है तो कोयला है, मज़बूत है तो हीरा है, ओस की बूँदों से चिड़ियाँ प्यास बुझाती हैं, हीरे की कनी को कोई नहीं निगल सकता।''

– *'इक़बाल शनासी'*

सरदार जाफ़री की आलोचकीय प्रतिभा का एक अहम नमूना 'पैग़ंबराने-सुख़न' है जिसमें कबीर, मीर, और ग़ालिब पर उनके लेख संकलित हैं। ये लेख भूमिकाएँ हैं। 1958 से 1965 तक उन्होंने भारत के जिन महान् क्लासिकी कवियों का गहन अध्ययन किया, इसका प्रभाव उनकी कवि-दृष्टि पर भी स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। उनके बाद के संग्रहों 'पैराहने-शरर' और 'लहू पुकारता है' को देखकर इसका अनुमान लगाया जा सकता है। इन कवियों की रचनाओं से कुछ अन्य तत्त्वों के अलावा उन्होंने इस सवाल का जवाब भी ढूँढ़ने की कोशिश की है कि सदियाँ गुज़र जाने के बाद भी किसी कवि का कृतित्व पाठकीय वृत्ति को संतुष्ट करने का कारण क्यों बनता है? किताब की भूमिका में लिखते हैं–

''मैं अपने-आपको आलोचकों की पंक्ति में शुमार नहीं करता और मैंने पेशावर आलोचकों का-सा रवैया भी अख़्तियार नहीं किया है। मेरे लिए कबीर, मीर और ग़ालिब की शाइराना दुनिया का पुनरावलोकन ख़ुद मेरी शे'रगोई के लिए ज़रूरी है। मैं जिस सौंदर्यदृष्टि और इतिहासदृष्टि में विश्वास रखता हूँ और जो पिछले तीस साल से मेरे अंदर रची-बसी है। लेकिन अपने समय से उदासीन नहीं है...महान् साहित्य की जड़ें अपने समय की ज़मीन में पैबस्त होती हैं। लेकिन फूल और फल समय की सीमाओं को तोड़ कर आगे निकल जाते हैं।

–(पृ.8)

जिस तरह मार्क्सवादी आलोचक G.M.Mathews ने शेक्सपीयर के नाटक 'ऑथेलो' का अध्ययन यूरोप के मध्यकालीन इतिहास की पृष्ठभूमि में किया है और बताया है कि किस तरह शेक्सपीयर ने लालित्यपूर्ण आलंकारिक शैली में

मानवीय गरिमा के अविभाज्य होने का नज़रिया पेश किया है, उसी तरह जाफ़री ने क़बीर और मीर की कविता में भक्ति और तसव्वुफ़ के मार्गों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते हुए मानवमात्र की समानता पर ज़ोर दिया है। जात-पाँत, रंग व नस्ल भेद, और सामाजिक ऊँच-नीच के भेद के मुक़ाबले में विश्व बंधुत्व, समता और मानवीय सहानुभूति का संदेश दिया। इसके प्रभाव भारतीय समाज और इससे भी ज़्यादा भारतीय चिंतन के विकास में देखे जा सकते हैं। सरदार जाफ़री कहते हैं, "हमें आज भी कबीर की रहनुमाई की ज़रूरत है। उस रोशनी की ज़रूरत है जो उस संत सूफ़ी के दिल से पैदा हुई थी।" उन्होंने कबीर काव्य के जनतांत्रिक और सेकुलर किरदार पर ज़ोर देते हुए एक जगह लिखा है :

"आज जबकि हिंदुस्तान के कुछ हल्क़े तंगनज़री का सबूत दे रहे हैं और और संकीर्ण सांस्कृतिक सोच को प्रोत्साहित करने की फ़िक्र में हैं तो राष्ट्रीयता की एक वस्तुवादी धारणा को अपनाने के लिए (जिसमें हिंदुस्तान के मिज़ाज की व्यापकता हो) एक ओर पाश्चात्य विज्ञान से लाभ उठाया जाए और दूसरी ओर अपने देश की उदार परंपराओं का स्मरण भी किया जाए।

वर्तमान युग के राजनीतिक क्रांतिकारी आंदोलनों को विस्तार देने के लिए हमारे मध्यकालीन क्रांतिकारी सोच से रिश्ता जोड़ना चाहिए।"

'पैग़ंबराने-सुख़न' में तीन अध्याय हैं–(1) हर्फ़े मुहब्बत : कबीर (2) सबा दर-बदर : मीर (3) तमन्ना का दूसरा क़दम : ग़ालिब।

ये दरअसल कबीर बानी और मीर व ग़ालिब के दीवानों की भूमिकाएँ हैं। मीर और ग़ालिब के दीवान क्योंकि हिंदी पाठकों को ध्यान में रखकर संपादित किए गए थे इसलिए इनकी भूमिकाओं में दोनों कवियों के जीवन-परिचय भी दिए गए हैं। सिर्फ़ उनकी शाइरी के विश्लेषण में जाफ़री ने जिन उपकरणों से काम लिया है, वे मार्क्सवादी समाजशास्त्र से संबंधित हैं। ग़ालिब की शाइरी और चेतना के अध्ययन में मुमताज़ हुसैन, ज़ोय अंसारी और डॉ. मुहम्मद हसन ने भी ऐतिहासिक वास्तविकताओं के व्यापक परिप्रेक्ष्य में शाइर के अस्तित्व विषयक दृष्टिकोण, सेकुलर रवैयों और मानवीय मूल्यों की पक्षधरता पर ज़ोर दिया है। सरदार जाफ़री ने ग़ालिब के अद्वैतवाद और निराशावाद के पीछे मौजूद उनकी मानवीय करुणा और फक्कड़मिज़ाजी को तलाश किया है। इस सिलसिले में उनकी काव्य-भाषा के प्रतीकात्मक चरित्र पर भी ख़ूबी से रोशनी डाली है।

कमोबेश यही ग़ैर रिवायती अंदाज़ मीर तक़ी 'मीर' के अध्ययन में नज़र आता है। लेकिन उन्होंने मीर के पाठ विश्लेषण के ज़रिए उनकी इश्क़िया शाइरी

और इश्क़ की धारणा के यथार्थवादी चरित्र पर रोशनी डाली है। लिखते हैं–

"मीर के युग के इन्सान की तरह मीर की शाइरी का प्रेमी भी एक कुचले हुए व्यक्तित्व की तरह है जो अपनी खोई हुई गरिमा वापस माँग रहा है। इसमें अहंकार का दूर-दूर तक पता नहीं है, सिर्फ़ बेदिमाग़ी है। अहंकार दौलत या ताक़त के ग़ुरूर से पैदा होता है और बेदिमाग़ी सब कुछ खोने के बाद आती है।"

–('पैग़ंबराने-सुख़न', पृ. 99)

सरदार जाफ़री ने कबीर और मीराँबाई के जो चयन तैयार किए हैं, वास्तव में वे उर्दू पाठकों के लिए हैं। क्योंकि हिंदी में इन कवियों के हवाले से बहुत कुछ लिखा जा चुका था और हिंदी के आलोचकों में मार्क्सवादी आलोचक भी शामिल थे।

सरदार जाफ़री को एहसास था कि कबीर के यहाँ भक्ति का जो रंग मिलता है और जिस तरह वे रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों पर ज़ोर देते हैं, वे सूफ़ी मत की शिक्षाओं के बहुत समीप हैं। उन्हें अफसोस है कि उर्दू वालों ने मलिक मुहम्मद जायसी और ख़ानख़ानाँ की तरह कबीर को अपनाने और उसे खड़ी बोली की उर्दू शाइरी की परंपरा से हम आहंग करने से गुरेज़ किया। कबीर और मीराँ की कविता के अध्ययन के पीछे शायद एक कारण यह भी रहा हो। सरदार जाफ़री ने डॉ. ताराचंद के हवाले से इस नुक्ते को प्रमुखता के साथ रेखांकित किया है कि कबीर स्वामी रामानंद के अलावा मुस्लिम सूफ़ी संतों के विचारों से भी प्रभावित थे। विभिन्न धर्मों का उन्हें विशद ज्ञान था।

डॉ. मुहम्मद हसन ने सरदार जाफ़री के कबीर और मीराँ विषयक अध्ययन पर टिप्पणी करते हुए एक आलेख में लिखा है–

"सरदार जाफ़री ने जब यह काम अंजाम दिया तो ज़माना कुछ और था। ज़माना वह था जब आधुनिकतावाद का ज़ोर शुरू हुआ था और आधुनिकतावाद के प्रवक्ता किसी क़िस्म के संदेश या शिक्षा की तो बात छोड़िए, इन शब्दों को ही निरर्थक मानते थे क्योंकि कविता उनकी दृष्टि में संप्रेषण से परे की चीज़ थी।"

सरदार अब प्रगतिशील साहित्यांदोलन के ज़माने की अतिवादी सोच वाले नहीं रह गए थे। वे अब अपेक्षाकृत ज़्यादा क्लासिकी राष्ट्रीय परंपराओं की खोज में थे। जिनसे वे अपनी रचना और आलोचना का संबंध जोड़ सकें। इस दृष्टिकोण को अर्जित करने के लिए उन्हें पहले ग़ालिब फिर इक़बाल और फिर कबीर और मीराँ बाई उपयुक्त लगे।"

–('नया सफ़र' जिल्द 16, 2000 ई. पृ. 34-35)

सरदार जाफ़री लिखते हैं–

"हमें आज भी कबीर की रहनुमाई की ज़रूरत है। उस रोशनी की ज़रूरत है जो उस संत सूफ़ी के दिल से पैदा हुई थी...आज साइंस की बेपनाह तरक़्क़ी ने इन्सान के सामर्थ्य को बढ़ा दिया है...इन्सान सितारों पर कमंदें फैंक रहा है, फिर भी दयनीय है...वह रंगों में बँटा हुआ है। क़ौमों में तक़्सीम है। उसके दरमियान मज़हब की दीवारें खड़ी हुई हैं। सांप्रदायिक नफ़रते हैं। दिलों के अंदर अँधेरे हैं। इसलिए उसे एक नए विश्वास, नए ईमान और नई मुहब्बत की ज़रूरत है जो उतनी ही पुरानी है जितनी कबीर की आवाज़। और इसकी अनुगूँज आज के युग की आवाज़ बन कर सुनाई देती है।"

–('पैग़ंबराने-सुख़न', पृ. 43)

आज के वैज्ञानिक युग की सुदृढ़ संस्थाओं, परंपराओं और विचारधाराओं ने आम जनता के प्रति शत्रुता के भाव को लेकर प्रतिरोध जताया है। सरदार जाफ़री ने मीर और ग़ालिब की शाइरी में वैज्ञानिक युग की इन्हीं विशेषताओं पर ज़ोर दिया है। उन्होंने एक ओर विश्व मानवता के प्रति दोनों शाइरों के प्रेम और धर्मनिरपेक्ष रवैए की अहमियत जताई है तो दूसरी ओर उस पवित्र घृणा का ज़िक्र भी किया है जो दिलों में बेचैनी पैदा करती है और शोषण-उत्पीड़न के फ़ितनों को फूँककर ख़ाक कर सकती है। फिर सरदार जाफ़री कहते हैं कि 'सरफ़रोशाने मुहब्बत का दिल ऐसे जुनून से भरा होता है, जो जल्लाद के हाथ से तलवार छीन ले और झूठ के सीने पर 'सच्चाई' का शब्द लिख सके।' इन शाइरों की महानता का एक पहलू यह भी है कि इन्होंने समाज और न्याय के इजारेदारों और उनकी हिमायत करने वाले विचारों के ख़िलाफ़ बग़ावत और नफ़रत की चिनगारी को हवा दी थी, इनके खिलाफ़ प्रतिरोध किया था।

जैसा कि सरदार जाफ़री ने बार-बार कहा है कि उन्होंने प्रगतिशील साहित्यांदोलन और अपनी शे'र गोई की प्रेरक परिस्थितियों को समझने और इनमें तालमेल बैठाने के लिए ये आलेख लिखे हैं। इनमें भी उनके विकासमान व्यक्तित्व के वही पहलू रोशन हैं जो उनकी शाइरी में नज़र आते हैं। इसके बावजूद उन्होंने तार्किक और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण पर ज़ोर देकर उर्दू में साहित्यालोचन की उस वैज्ञानिक पद्धति को विकसित किया जिसकी शुरूआत प्रगतिशील आलोचकों ने की थी।

सरमाया-ए-सुख़न

सरदार जाफ़री ने अपनी सर्जना की लंबी यात्रा में अनेक प्रयोग एवं अन्वेषण किए हैं और इनके औचित्य को भी सिद्ध किया है। चाहे वह अवामी मुहावरे का प्रयोग हो, नज़्म की बहरों में परिवर्तन हो या शाइरी के शब्द-भंडार में मौलिक वृद्धि[1]। यह काम उन्होंने ख़ासे आत्मविश्वास से इसलिए अंजाम दिया कि उर्दू व फ़ारसी के क्लासिकी सरमाए (निधि) की बारीकियों को जानने में वे बचपन ही से दिलचस्पी रखते थे। अध्ययन के शौक़ के साथ-साथ इसमें इज़ाफ़ा होता गया और इसकी सापेक्षता में कला के सूक्ष्म तत्त्वों के बारे में उनकी समझ बढ़ती गई।

'सरमाया-ए-सुख़न' उनके इसी अध्ययन, चिंतन और शोध-अभ्यास का सुपरिणाम है। वास्तव में यह उनके सारे जीवन के साहित्य-चिंतन की उपलब्धि है। यह योजनाबद्ध कार्य कब और किन प्रेरणाओं से शुरू हुआ? इस पर रोशनी डालते हुए वे किताब की भूमिका में लिखते हैं :

"'सरमाया-ए-सुख़न' एक संक्षिप्त कोश है। एक बड़े काम की छोटी-सी शुरूआत। यह उन जवाहरपारों से भरा पड़ा है जिन्हें शाइराना शब्द और सामासिक पद कहते हैं। उर्दू शाइरी की इमेजरी या बिम्ब-विधान की ये दुर्लभ मिसालें हैं। उनकी तादाद का कोई सही अंदाज़ा नहीं है क्योंकि बहुत-से शब्द और शब्द-बंध या सामासिक पद किसी कोश में संकलित नहीं किए गए।"

(पृ. 28)

"'सरमाया-ए-सुख़न' का काम दो साल और जारी रहा, फिर रुक गया। लगभग पचास हज़ार शब्दों का चयन-संकलन हो चुका जिनमें से बीस-इक्कीस

1. उर्दू आलोचना की भाषा में इसे 'तसर्रुफ़' कहते हैं।

हज़ार शब्द और उनके मुताबिक़ ज़रूरी शे'र बाक़ी रखे गए और इन शब्दों को वर्णानुक्रम से संपादित करके सुरक्षित कर लिया गया।"

(पृ. 41)

किताब में विस्तृत भूमिका के बाद पृष्ठभूमि के रूप में दो लेख भी दिए गए हैं—'ज़ौक़े-जमाल' और 'सुख़ने-दाउदी'। पहला लेख सरदार जाफ़री की किताब 'तरक़्क़ी पसंद अदब' से लिया गया है जिसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से शाइरी और ललित कलाओं के स्रोतों और इनकी सौंदर्यचेतना के विकास का जायज़ा लिया गया है।

दूसरे लेख 'सुख़ने दाउदी'[1] में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण हावी नज़र आता है जिसमें शाइरी को संगीत से जोड़ा गया है। उनका विचार है कि प्रागैतिहासिक काल और इसके कुछ बाद तक कविता को नृत्य-संगीत का एक रूप माना जाता था। यहाँ तक कि आसमानी सहीफ़ों (देववाणियों) की भाषा भी कविता का दर्जा रखती थी। सामाजिक विकास के आरंभिक युग में बेशक इस नज़रिए के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन सांस्कृतिक एवं शैक्षिक तौर पर विकसित समाजों में यह सूरते हाल क़ायम नहीं रहती है। इसलिए सरदार जाफ़री का निम्नोद्धृत मत ख़ासा विवादास्पद बन जाता है :

"दरअसल शाइरी बुनियादी दौर पर गाने, सुनने और सुनाने की चीज़ है (तरन्नुम के साथ और बग़ैर तरन्नुम के) जो शाइरी इस क़ाबिल नहीं है, उसका रिश्ता आम इनसानों और ज़िंदगी से कट चुका है और वह अपने-आपको सही ठहराने के लिए यह दलील ला रही है कि शाइरी दरअसल किताब में पढ़ने की चीज़ है।"

–(पृ. 67)

सरदार जाफ़री ने इस लेख में अनीस और दबीर के मर्सियों और हफ़ीज़ जालंधरी के 'शाहनामा-ए-इस्लाम' के हवाले से लिखा है कि श्रोतागण बड़ी रुचि से घंटों इस कलाम को सुनते थे। उन्होंने हिंदुस्तान में मुशाइरों की बेपनाह लोकप्रियता के पीछे इसी परंपरा को सक्रिय देखा है और प्रगतिशील साहित्यांदोलन की व्यापक लोकप्रियता में मुशाइरों की अहमियत को स्वीकार किया है। निस्संदेह जहाँ तक एशियाई कविता का संबंध है, सरदार जाफ़री की इस बात में आंशिक सच्चाई है। इसलिए कि एशियाई देशों की अधिकांश आबादी श्रुति परंपरा से जुड़ी रही है और कविता से आनंदित होने की तड़प उन्हें मुशाइरों या लोकगीतों

1. एक मशहूर पैग़ंबर हज़रत दाऊद से संबंधित; एक प्रकार का फूल।

की महफ़िलों में खींच ले जाती थी। (हमारे देश में यह सिलसिला अब भी जारी है।) इसके बावजूद यह पूरी सच्चाई नहीं है। शाइरी सुनने के साथ पढ़ने की चीज़ भी रही है। पठन-पाठन एवं शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ उच्चकोटि की कविता किताबों और पत्रिकाओं में सुरक्षित होकर बार-बार पढ़ी जाती है और यह क्रम समय के प्रवाह के साथ पीढ़ी दर पीढ़ी जारी रहता है।

यहाँ चर्चित दोनों लेखों को छोड़कर 'सरमाया-ए-सुख़न' उर्दू भाषा में अपने ढंग की पहली किताब है जिसमें उर्दू शाइरी की शब्दसंपदा, पारंपरिक एवं नए बिंब-विधान और नए-से-नए संकेतों व प्रतीकों का अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन की अहमियत इसलिए बढ़ जाती है कि इस आईने में बीसवीं सदी के एक प्रतिष्ठित शाइर और नामवर मार्क्सवादी चिंतक का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होता है। साहित्य से जुड़े लोग जानते हैं कि सरदार जाफ़री के पास ग़ज़ब की स्मरण शक्ति थी। उन्हें नए और पुराने शाइरों के हज़ारों शे'र याद थे। मर्सियों के सैकड़ों बंद उन्हें कंठस्थ थे। अपने भाषणों और संबोधनों में वे शे'रों का प्रसंगानुकूल प्रयोग करते हुए अपने पक्ष को मज़बूत बनाते और श्रोताओं को चकित कर देते थे। इस किताब में सैंकड़ों शे'र उन्होंने अपनी स्मृति के सहारे ही दर्ज किए हैं। इसी तरह शाइराना बंदिशें, तरकीबें, मुहावरे, बिम्ब और प्रतीक—जिनसे शे'र में नए-नए अर्थ पैदा होते हैं—सरदार जाफ़री के ज़ेहन में ताज़ा रहते थे और इस कोश में इनकी प्रविष्टि करते हुए वे कहीं एक-दो और कहीं बेशुमार शे'र नक़्ल कर देते हैं।

कुछ उदाहरण देखिए—

"आबे हैवाँ–*आबे-हयात, आबे बक़ा, आबे-ख़िज़्र,*
आबे ज़ुल्मात, अमृत।
आबे-हैवाँ का न कर ज़िक्र कि हासिल है मुझे
दौलते-क़ुर्ब-मसीहा नफ़्साँ आज की रात

इस पानी को पैग़ंबर हज़रत ख़िज़्र के नाम से भी याद किया जाता है क्योंकि मुस्लिम रिवायत के मुताबिक़ वे आबे-हयात पीकर मौत से मेहफ़ूज़ हो गए थे।

आफ़्रीनश– *पैदाइशे-काइनात, सृष्टि*
हैं ज़वाल आमादा अज्ज़ा आफ़्रीनश के तमाम
महरे-गर्दूं है चिराग़े-रह गुज़ारे-बाद याँ

काइनात की हर चीज़ ज़वाल आमादा[1] है, ज़वाल की जद में है। तग़य्युर पज़ीर[2] है, फ़ानी है। आफ़ताब जिससे हमारी दुनिया की रोशनी और रौनक़ और बक़ा[3] है, एक चिराग़ की तरह है जो चलती हुई हवा की रहगुज़र में रखा है। एक दिन यह भी बुझ जाएगा।''

—(पृ. 258)

सरदार जाफ़री ने सिर्फ़ प्रतीकात्मक शब्दों और तरकीबों को ही इस अध्ययन में संगृहीत नहीं किया है बल्कि अक्षर 'अलिफ़' के संदर्भ में जहाँ कुछ रचनाकारें के नाम आ गए हैं, उनके बारे में ज़रूरी मालूमात दे दी हैं। मिसाल के तौर पर 'आज़ाद', मुहम्मद हुसैन या 'आज़ाद' जगन्नाथ। जगन्नाथ 'आज़ाद' पर पंद्रह पृष्ठों में टिप्पणी की है। इसमें उनकी इक़बाल शनासी और शोधपरक कार्यों के अलावा उनकी शाइरी पर भी राय ज़ाहिर की गई है। अंत में उनकी चंद नज़्मों और ग़ज़लों को भी शामिल किया गया है। मुहम्मद हुसैन आज़ाद का तज़किरा[4] भी आठ पृष्ठों में फैला हुआ है।

इस तरह यह किताब अपनी सामान्य प्रकृति में उर्दू शाइरी के समंदर का दर्जा हासिल कर लेती है। विशेषता यह है कि कोशकार ने जगह-जगह कुछ शब्दार्थों को समझाते हुए अपने निजी अनुभव भी शामिल कर दिए हैं। मिसाल के तौर पर इक़बाल ने एक शे'र में 'शोला-ए-आशाम' की तरकीब इस्तेमाल की है। इसके हवाले से जाफ़री लिखते हैं—

''शोला-ए-आशाम के मानी हैं शोला पी जाने वाला। ईरान का मुझे तजुबा नहीं है लेकिन मास्को, ताज़िकिस्तान और उज़बेकिस्तान के अच्छे पीने वाले रिंद जाम में ब्रांडी भर कर उसमें आग लगा देते हैं और फिर शोले के साथ शराब पी जाते हैं। मैंने भी कोशिश की तो मेरे होंट जल गए लेकिन शोला आशामी का हुनर आ गया।''

—(पृ. 142)

अली सरदार जाफ़री सिर्फ़ साहित्य के मर्मज्ञ नहीं, स्वयं एक उच्चकोटि के शाइर थे। अपने निजी सर्जनात्मक अनुभवों से उन्होंने यह ज्ञात किया था एक मामूली शब्द में अर्थ-सौंदर्य और जादुई कैफ़ीयत कैसे पैदा हो जाती है। उन्होंने 1958 में 'दीवान-ए-ग़ालिब' की भूमिका में शाइराना शब्द-संपदा के हवाले से लिखा था कि शाइरी से आनंदित होने के लिए केवल शब्दार्थ से वाक़िफ़ होना

1. नाशवान, 2. परिवर्तनशील, 3. स्थायित्व, पायदारी, 4. वृत्तांत

काफ़ी नहीं, शे'रों को बार-बार पढ़ना भी ज़रूरी है। फिर शब्द अक्षर-समूह के रूप में नहीं, तस्वीरों के रूप में पहचाने जाएँगे। आदमियों के चेहरे की तरह धीरे-धीरे भावपूर्ण होंगे और अपने व्यक्तित्व को ज़ाहिर करेंगे। सरदार जाफ़री ने लिखा है कि इस प्रक्रिया द्वारा पाठक को शाब्दिक अर्थ से गुज़र कर काव्यार्थ तक पहुँचने का रास्ता मिलेगा।

'सरमाया-ए-सुखन' के अलावा सरदार जाफ़री ने अपनी दूसरी कृति 'पैग़ंबराने-सुखन' में मीर, ग़ालिब और कबीर की कविता का जायज़ा लेते हुए शब्दों और आम मुहावरों को काव्यात्मक मुहावरों की हैसियत देने की प्रक्रिया पर विशेषता के साथ बातचीत की है और बताया है कि दूसरी भाषाओं के मुहावरों को रचनाकारों ने शे'र में बरत कर उर्दू शाइरी के दामन को विस्तार दिया है। यह अंश देखिए—

''आज ज़बान में कितने ही ऐसे मुहावरे इस्तेमाल हो रहे हैं और किसी को यह संदेह भी नहीं होता कि किसी ज़माने में दूसरी ज़बान से तर्जुमा करके बनाए गए थे। मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने 'आबे-हयात' में बहुत मुहावरों, लफ़्ज़ों और तरकीबों की मिसालें पेश की हैं। मसलन 'दरआमन' (घुस आना) से दर आना बनाया गया। अर्क़ अर्क़ शुदन, आबे शुदन (शर्मिंदा होना) से पानी-पानी होना (आग दोज़ख़ की भी हो जाएगी पानी-पानी)। हर्फ़ आमदन (ऐतराज़ होना) से हर्फ़ होना। दिल ख़ून शुदन से दिल का ख़ून होना या दिल का लहू होना। चश्मक ज़दन से चश्मक ज़नी करना। पैमाना पुरकर्दन (मार डालना) से पैमाना भरना (पैमाना मेरी उम्र का ज़ाहिर तो भर चला), दामन अफ़शांदा बरख़ास्तन (बेज़ार होकर उठना) से दामन झाड़ना, दामन झटकना। अज़ जामा बैरून शुदन (बेक़ाबू होना) से जामे से बाहर होना। दिल अज़ रफ़्तन (बेअख़्तियार हो जाना) से दिल का हाथ से जाना (हाथ से जाता रहा दिल देख मेहबूबाँ की चाल)। दिल दादन (आशिक़ होना) से दिल देना। अज़ जान गुज़िशतन (जान पर खेलना) से जान से गुज़रना वग़ैरह, वग़ैरह। इसी तरह तरदामन (भीगा हुआ दामन) यानी गुनाह से भरा हुआ और चिराग़े सहरी (सुबह का चिराग़ जो बुझने के क़रीब हो) की तरह की तरकीबों ने भी ज़ुबान में अपनी जगह बना ली। मैख़ाना, शराब, सुराही, साग़र, मीना, साक़ी और पीरे-मुग़ाँ। ग़रज़ ये सारे शब्द और मुहावरे उर्दू शाइरी में दाख़िल हो गए और आतिशे-गुल, दस्ते-सबू, गर्दने-मीना और पाए-ख़म के समास शाइरी में आम हो गए। वसंत के साथ बहार की कल्पना आई। भीम और अर्जुन

के साथ रुस्तम और सोहराब, और सोहनी-महीवाल, हीर-राँझा के साथ शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ उर्दू की दुनिया में आबाद हो गए।"

—(पैग़ंबराने-सुख़न' पृ, 59-60)

'सरमाया-ए-सुख़न' (भाग एक) की अहमियत इस बात में है कि इसे एक अधीती विद्वान, दृष्टिसंपन्न आलोचक और मूर्द्धन्य कवि ने संपादित किया है। अफ़सोस इस बात का है कि सरदार जाफ़री की ज़िंदगी ने वफ़ा न की और इस पहले भाग में वे सिर्फ़ प्रथमाक्षर यानी 'अलिफ़' की प्रविष्टियाँ ही पूरी कर सके। शायद वे कह रहे हैं—

कौन होता है हरीफ़े-मये-मर्द अफ़्ग़ाने-इश्क़
है मुकर्रर लबे साक़ी पे सला मेरे बाद[1]

1. मुहब्बत की शराब पीकर सँभले रहना सिर्फ़ मेरा ही दम था। अब जो मैं चल बसा हूँ तो सारी महफ़िल में (महफ़िल से मुराद दुनिया से है) इस शराब को पीकर बर्दाश्त करने वाला कोई नहीं रहा और साक़ी बार-बार आवाज़ देता है कि कोई है? है कोई जो ग़ालिब के बाद इस शराब को पी सके?

—(दीवान-ए-ग़ालिब' हिंदी : संपादक विश्वनाथ, पृ. 56)

चयन

(नज़्में और ग़ज़लें)

अवध की ख़ाके-हसीं

गुज़रती बरसात आते जाड़े के नर्म लम्हे
हवाओं में तितलियों की मानिंद उड़ रहे हैं
मैं अपने सीने में दिल की आवाज़ सुन रहा हूँ
रगों के अंदर लहू की बूँदें मचल रही हैं
मिरे तसव्वुर के ज़ख्म खुर्दा[1]
उफ़क़[2] से यादों के कारवाँ यों गुज़र रहे हैं
कि जैसे तारीक शब के तारीक आसमाँ से
चमकते तारों के मुस्कुराते हुजूम गुज़रें

मैं क़ैदख़ाने में इश्क़े-पैचाँ[3] की सब्ज़ बेलों को ढूँढ़ता हूँ
जो फैल जाती हैं अपने फूलों से नन्हे-नन्हे चिराग़ लेकर
कहाँ है वो दिल नवाज़ बाहें
वो शाख़े संदल
कि जिस पर अंगड़ाइयों ने अपने ही नशेमन बना लिए हैं
मैं अपनी माँ के सफ़ेद आँचल की छाँव को याद कर रहा हूँ
मिरी बहन ने मुझे लिखा है
नदी के पानी में बेद की झाड़ियाँ अभी तक नहा रही हैं
पपीहे रुख़्सत नहीं हुए हैं
अभी वो अपनी सुरीली आवाज़ से दिलों को लुभा रहे हैं

1. ज़ख्म खाये हुए, आहत, 2. क्षितिज, 3. पेचीदा इश्क़।

मैं रात के वक़्त अपने ख़्वाबों में चौंक पड़ता हूँ जैसे मुझको
अवध की मिट्टी बुला रही है
हसीन झीलें कँवल के फूलों की चादरों में ढँकी हुई हैं
फ़ज़ाओं में मेघूदत परवाज़[1] कर रहे हैं
न जाने कितनी मुहब्बतों के पयाम लेकर
घटाओं की अप्सराएँ अपनी
घनेरी ज़ुल्फ़ों में आख़िरी बार मुस्कुराकर
ख़लीजे-बंगाल[2] बहरे-अदब[3] के मोती पिरो रही हैं
हरे परों और नीले फूलों के मोर खुश होके नाचते हैं

क़दीम[4] गंगा का पाक पानी ज़मीं के दामन को धो रहा है
वो खेतियाँ धान से भरी हैं
जहाँ हवाएँ अज़ल के दिन से सितार अपने बजा रही हैं
हिमालय की बुलंदियाँ बर्फ़ से ढँकी हैं
उन आसमाँ बोस चोटियों को
सहर के सूरज ने सात रंगों की कलगियों से सजा दिया है
शफ़क़[5] की सुर्ख़ी में मेरी बहनों की मुस्कुराहट घुली हुई है

मिरे तसव्वुर में साक़ियों का ख़राम रंगीं न जामो-मीना की गर्दिशें हैं
न मैकदे हैं, न शोरिशें[6] हैं
मैं छोटे-छोटे घरों की छोटी-सी ज़िंदगी में घिरा हुआ हूँ
अँधेरों क़स्बों को याद करते तड़प रहा हूँ
वो जिनकी गलियों में मेरे बचपन की यादें अब तक भटक रही हैं
जहाँ के बच्चे पुराने कपड़ों की मैली गुड़ियों से खेलते हैं
वो गाँव जो सैंकड़ों बरस से बसे हुए हैं
किसानों के झोपड़ों पे तरकारियों की बेलों चढ़ी हुई हैं
पुराने पीपल की जड़ में पत्थर के देवता बेख़बर पड़े हैं
क़दीम बरगद के पेड़ अपनी जटाएँ खोले हुए खड़े हैं

1. उड़ान, 2. बंगाल की खाड़ी, 3. अ़रब सागर 4. प्राचीन 5. उषाकाल, भोर 6. हंगामे, फ़साद

ये सीधे-सादे ग़रीब इन्सान नेकियों के मुजस्सिमे हैं
ये मेहनतों के ख़ुदा ये तख़्लीक़[1] के पयम्बर
जो अपने हाथों के खुरदुरे पन से ज़िंदगी को संवारते हैं।
लुहार के घन के नीचे लोहे की शक्ल तब्दील हो रही है
कुम्हार का चाक चल रहा है
सुराहियाँ रक़्स कर रही हैं
सफ़ेद आटा स्याह चक्की से राग बनकर निकल रहा है
सुनहरे चूल्हों में आग के फूल खिल रहे हैं
पतीलियाँ गुनगुना रही हैं
धुएँ से काले तवे भी चिनगारियों के होटों से हँस रहे हैं
दुपट्टे आँगन में डोरियों पर टँगे हुए हैं
और उनके आंचल से धानी बूंदें टपक रही हैं
सुनहरी पगडंडियों के दिल पर
स्याह लहंगों की सुर्ख़ गोटें मचल रही हैं

ये सादगी किस क़दर हसीं है
मैं जेल में बैठे-बैठे अक्सर ये सोचता हूँ
जो हो सके तो अवध की प्यारी ज़मीन को गोद में उठा लूँ
और उसकी शादाब लहलहाती हुई जिबीं[2] को
हज़ारों बोसों[3] से जगमगा दूँ

मैं अपने बचपन के साथियों की गरजती आवाज़ सुन रहा हूँ
वो कारख़ानों के सामने इनक़िलाब बनकर खड़े हुए हैं
वो खेतियों में बहार बन कर रवाँ-दवाँ हैं
अँधेरी कानों की तीरगी में
वो नूर बनकर उतर रहे हैं
ज़मीं के सीने पर काश्तकारों की लाठियों के
हज़ारों जंगल उगे हुए हैं
कुदालें खेतों की पासबाँ[4] हैं

1. रचना, सृष्टि, 2. माथा 3. चुम्बन 4. रखवाली करने वाली।

दराँतियाँ जगमगा रही हैं
ज़मीन के ग़ासिबों[1] के चेहरे का रंग काफ़ूर हो रहा है
मिलों के मालिक लरज़ रहे हैं

ग़रीब सीता के घर पे कब तक रहेगी रावण की हुक्मरानी
द्रोपदी का लिबास उसके बदन से कब तक छुटा करेगा
शकुंतला कब तक अंधी तक़दीर के भँवर में फँसी रहेगी
ये लखनऊ की शगुफ़्तगी मक़बरों में कब तक दबी रहेगी
सरों के ऊपर मुसीबतों के पहाड़ कब तक गिरा करेंगे
बिलकती आँतों को भूक कब तक डसा करेगी
ज़मीं के सीने पे क़ातिलों के गिरोह कब तक चला करेंगे
ख़बासतें[2] कब तलक अहिंसा का रूप धारे फिरा करेंगी
किसान जो अपनी पाक धरती पे जानवर की तरह झुके हैं
जो कच्चे चमड़े के सख़्त जूतों से पिट रहे हैं
ये जिस्म जो कारख़ानेदारों की भट्टियों में उबल रहे हैं
ये हाथ लोहे के दाँत जिनको चबा रहे हैं

ये ख़ून जो नफ़ा ख़ोर बनियों की थैलियों में खनक रहा है
ये औरतें जिनके हाथ पीछे बँधे हुए हैं
जो ऊँचे पेड़ों पे अपने बालों की फाँसियों में लटक रही हैं
ये काँपती मुफ़लिसी जो आयी है छातियों का लगान लेकर
ये नन्हें बच्चे जो मालिकों के मवेशियों को चरा रहे हैं
जो ख़ेत-मजदूर भूके रहकर ज़मीं से गेहूँ उगा रहे हैं
ये अपने सीने की आग कब तक दबा सकेंगे
ये अपनी नफ़रत का ज़हर कब तक छुपा सकेंगे
ये ज़ख़्म कब तक हरे रहेंगे

अवध की ख़ाके-हसीं के ज़र्रे बगूले बनकर मचल रहे हैं
अब आँसुओं की पुरानी झीलों से सुर्ख़ शोले उबल रहे हैं

1. बलपूर्वक दूसरों का अधिकार छीनने वाले 2. नापाक हरकतें, शरारतें

ग़मों की भारी सिलें दिलों से सरक रही हैं
शुजाअतें[1] गोफनों को लेकर निकल रही हैं
झुके हुए सर उभरते सूरज की शानो-शौकत से उठ रहे हैं
ये सूरमाओं की सरज़मीं है
ये आसमान ख़मोश तूफ़ान बर्क़ो-बाराँ का आसमाँ है
ये मुस्कुराती हुई फ़ज़ा सुर्ख आँधियों से भरी हुई है
यहाँ तक एक-एक चप्पा लाखों बग़ावतों से बसा हुआ है
बग़ावतें जो हर इक शहनशाहियत की चूलें हिला चुकी हैं
बग़ावतें सामाज को जो बुलंदियों से गिरा चुकी हैं
बग़ावतें जो फ़िरंगियों के दिलों पे हेबत बिठा चुकी हैं
यही पुरानी बगावतें फिर नए सिरे से जवाँ हुई हैं

मिरे वतन की ज़मीं को नापाक करने वालो
मैं इन पुरानी नई अवामी बग़ावतों ही का तर्जुमान हूँ
मैं अपने अहले-वतन के एहसास और जज़्बात की ज़बाँ हूँ
मैं ख़ाक से कह रहा हूँ अपने अनाज को कोख में छुपा ले
लुटेरे खेतों में फिर रहे हैं
मैं लाखों मज़दूर नौजवानों के साथ मैदाँ में आ रहा हूँ
ग़दर के मक़्तूल[2] सूरमाओं को मर्क़दों[3] से उठा रहा हूँ

मैं चोरी-चोरा के सोये शेरों को गीत गाकर जगा रहा हूँ
चमन के फूलो चमन में एक आग-सी लगा दो
लचकती शाखों फ़ज़ा में ज़ंजीर बन के फैलो
ज़मीं के धातो हवा में ज्वालामुखी उछालो
मिलों के पहियो बग़ावतों के तराने गाओ
कहाँ हो ऐ नेकियों की फ़ौजो
बदी के ऊँचे महल गिरा दो
सदाक़तो[4] आओ झूठ के साँप को कुचल दो
हयात की तेज़ो-तुंद मौजो-फ़ना के ख़ाशाक[5] को बहा दो

1. वीरता, पराक्रम 2. क़त्ल किये गये 3. क़ब्रों 4. सच्चाइयों 5. कूड़ा-करकट

सहर[1] की किरनो अँधेरी रातों के सर पे बरसो
अवाम के दुश्मनों का नामो निशाँ मिटा दो
अवध की ख़ाके-हसीं के ज़र्रो
जो सैकड़ों मील दूर से उड़के मेरे ख़्वाबों में आ गए हो
मिरे वतन की ज़मीं से मेरा सलाम कहना
उसे बताना
कि मेरे होंटों पे संगो-आहन[2] की सर्द मुहरें लगी हुई हैं
वो काला क़ानून एक दीवार बनके रास्ते में आ गया है
जिसे अहिंसा का नाम लेकर
पुजारियों ने खड़ा किया है
मगर ये दीवार रोक सकती नहीं है मुझको
उबलते ज्वालामुखी को कोई दबा सका है?
मैं आज मजबूर हूँ तो क्या है
मगर मैं उसके मुजाहिदों[3] की सफ़ों से बाहर नहीं गया हूँ

1. भोर, 2. पत्थर और लोहा 3. धर्म-योद्धा।

मेरे ख़्वाब

ऐ मिरे हसीं ख़्वाबों
तुम कहाँ से आए हो
किस उफ़क़[1] से उभरे हो
किस शफ़क़[2] से निखरे हो
किन गुलों की सुहबत में
तुमने तरबीयत[3] पाई
किस जहाँ से लाए हो
ये जमाल-ओ-रानाई[4]

जेल तो भयानक है
इस ज़लील दुनिया में
हुस्न का गुज़र कैसा
रंग है न निकहत[5] है
नूर है न जलवा है
जब्र की हुकूमत है
तुम कहाँ से आए हो
ऐ मिरे हसीं ख़्वाबों
मैंने तुम को देखा है
याद अब नहीं आता
शायद एक लड़की की

1. क्षितिज 2. भोर, सुबह 3. शिक्षा 4. सौंदर्य 5. ख़ुशबू।

थरथराती पलकों में
जगमगाती आँखों में
या किसी तबस्सुम[1] में
जो नहा के निकला हो
आँसुओं की शबनम से

इक हुमकते बच्चे की
मुट्ठियों के फूलों पर
तितलियों की योरिश सी
और माँ की नज़रों में
सैंकड़ों उमीदों के
शोख़ रंग गुलदस्ते
मैंने तुमको देखा है
नन्हीं-नन्हीं गुड़ियों में
नाचते खिलौनों में
या रबर की गैंदों में
मैंने तुमको देखा है
घुटनियों चले हो तुम
तोतली ज़बानों में
तुमने दूध माँगा है
'एक शाहज़ादा था'
'एक शाहज़ादी थी'
इस हसीं कहानी पर
जाने कितने बच्चों ने
अपने सर उठाये हैं
जाने कितनी आँखों में
फूल मुस्कुराये हैं
और मैं समझता हूँ
तुम इसी कहानी की
सर जमीं से आए हो

1. मुस्कान।

कुछ किसान कन्याएँ
सब्ज़ो-सुर्ख़ शीशों की
चूड़ियाँ कलाई में
और गिलट की चाँदी की
हँसलियों से गर्दन में
नीम चाँद[1] के हल्के[2]
चोलियों पे लहंगों पर
ज़र्द-ज़र्द मिट्टी के
ज़र्द बेल-बूटे-से
मैले-मैले आँचल पर
बालियों के बोसे हैं
उनके हाथ में हँसिए
गीत गाने लगते हैं
झूम-झूम कर पौदे
अपना सर झुकाते हैं
नौजवान लठियारे
खेत की मुंडेरों पर
प्रेम गीत गाते हैं
ऐ मिरे हसीं ख़्वाबो
तुम इन्हीं बहारों की
कोंपलों से फूटे हो
एक कारख़ाने में
चंद नौ जवानों ने
अंजुमन[3] बनायी है
और उसमें लेनिन की
इक किताब पढ़ते हैं
सुन रही हैं दीवारें
हँस रही है तारीकी[4]
नौ जवान बैठे हैं

1. अर्द्ध चंद्र 2. वृत्त, दायरे, 3. सभा, 4. अँधेरा।

और किताब पढ़ते हैं
एक-एक जुमले पर
चौंक-चौंक पड़ते हैं
एक-एक फ़िक्रे पर
अपना सर हिलाते हैं
गाह[1] आह भरते हैं
गाह मुस्कुराते हैं
मैंने उनके सीनों में
ऐ मिरे हसीं ख़्वाबो
तुमको नाचते देखा
मैंने तुमको देखा है
जब स्याह मेहराबें
आसमाँ पे बनती हैं
जब सुकूत[2] की परियाँ
कहकशाँ[3] पे चलती हैं
गैसुओं[4] की निक्हत[5] से
जब हवा महकती है
जब फ़ज़ा चहकती है
मेरे गर्म होंटों पर
प्यार थराथराते हैं
और मेरी मेहबूबा
अपने रंगे-आरिज़[6] से
बिजलियाँ बनाती हैं
और मेरी नज़रों में
इक जहान मिटता है
इक जहान बनता है
इक ज़मीन हटती है
इक ज़मीन आती है
मैं असीर[7] हूँ लेकिन

1. कभी, 2. एकांत, स्तब्धता 3. आकाश गंगा, 4. केश 5. सुगंध 6. गालों का रंग 7. बंदी, क़ैद।

तुमको कोई भी क़ानून
क़ैद कर नहीं सकता
सर बुलंद और आज़ाद
यूँ ही मुस्कुराए जाओ
मेरे दिल की दुनिया में
यूँ ही जगमगाए जाओ
क़ैदो-बंद के जल्लाद
तुमको पा नहीं सकते
लम्बे-लम्बे ज़ालिम हाथ
तुमको छू नहीं सकते
ऐ मिरे हसीं ख़्वाबो

('पत्थर की दीवार' से)

एक ख़्वाब और

ख़्वाब अब हुस्ने, तसव्वुर[1] के उफ़क़[2] से हैं परे
दिल के इक जज़्बए-मासूम ने देखे थे जो ख़्वाब
और ताबीरों[3] के तपते हुए सेहराओं[4] में
तिश्नगी आबला पा[5] शोला बकफ़ मौजे-सराब[6]
ये तो मुम्किन नहीं बचपन का कोई दिन मिल जाए
या पलट आए कोई साइते-नायाबे-शबाब[7]
फूट निकले किसी अफ़्सुर्दा[8] तबस्सुम से किरन
या दमक उट्ठे किसी दस्ते-बुरीदा[9] में गुलाब
आह पत्थर की लकीरें हैं कि यादों के नुक़ूश[10]
कौन लिख सकता है फिर उम्रे-गुज़िश्ता की किताब
बीते लम्हात के सोये हुए तूफ़ानों में
तैरते फिरते हैं फूटी हुई आँखों के हबाब[11]
ताबिशे-रंगे-शफ़क़[12], आतिशे-रूए-ख़ुर्शीद[13]
मल के चेहरे पे सहर आयी है ख़ूने-अहबाब[14]
जाने किस मोड़ पे, किस राह में क्या बीती है
किससे मुमकिन है तमन्नाओं के ज़ख़्मों का हिसाब
आस्तीनों को पुकारेंगे कहाँ तक आँसू
अब तो दामन को पकड़ते हैं लहू के गिर्दाब[15]

1. कल्पना का सौंदर्य 2. क्षितिज 3. स्वप्न का साकार होना 4. मरुस्थल 5. प्यास जिसके पैर में छाले हों 6. अंगारे बरसाती मरुस्थल की लहरें 7. यौवन का समय 8. उदास 9. ज़ख़्मी हाथ 10. चिह्न 11. बुलबुले 12. भोर की लालिमा 13. सूर्य की ऊष्मा 14 स्वजनों का रक्त 15 भंवर।

देखती-फिरती है एक-एक का मुँह ख़ामोशी
जाने क्या बात है शर्मिंदा है अंदाज़े ख़िताब
दर-बदर ठोकरें खाते हुए फिरते हैं सवाल
और मुजरिम की तरह उनसे गुरेज़ाँ हैं जवाब
सरकशी[1] फिर मैं तुझे आज सदा देता हूँ
मै तिरा शाइरे-आवारा-ओ-बेबाको-ख़राब
फैंक फिर जज़्बए-बेताब की आलम पे कमंद[2]
एक ख़्वाब और भी ऐ हिम्मते-दुश्वार पसंद

–('एक ख़्वाब और' से)

1. उद्दंडता 2. फंदा, जाल।

मेरा सफ़र

'हमचू सब्ज़ा बारहा रूईदा ईम'
—रूमी

फिर इक दिन ऐसा आएगा
आँखों के दिये बुझ जाएँगे
हाथों के कँवल कुम्हलाएँगे
और बर्गे-ज़बाँ[1] से नुत्क़ो-सदा[2]
की हर तितली उड़ जाएगी
इक काले समंदर की तह में
कलियों की तरह से खिलती हुई
फूलों की तरह से हँसती हुई
सारे शक्लें खो जाएँगी
ख़ूँ की गर्दिश, दिल की धड़कन
सब रागनियाँ सो जाएँगी
और नीली फ़ज़ा की मखमल पर
हँसती हुई हीरे की ये कनी
ये मेरी जन्नत मेरी ज़मीं
इसकी सुबहें इसकी शामें
बेजाने हुए बेसमझे हुए
इक मुश्ते-गुबारे इनसाँ पर
शबनम की तरह रो जाएगी
हर चीज़ भुला दी जाएगी

1. जिह्वा रूपी पत्ता 2. वाणी, आवाज़

यादों के हसीं बुतख़ाने से
हर चीज़ उठा दी जाएगी
फिर कोई नहीं यह पूछेगा
सरदार कहाँ हैं महफ़िल में

लेकिन मैं यहाँ फिर आऊँगा
बच्चों के दहन[1] से बोलूँगा
चिड़ियों की ज़बाँ से गाऊँगा
जब बीज हँसेंगे धरती में
और कोंपलें अपनी उंगली से
मिट्टी की तहों को छेड़ेंगी
मैं पत्ती-पत्ती, कली-कली
अपनी आँखें फिर खोलूँगा
सरसब्ज़ हथेली पर लेकर
शबनम के क़तरे तौलूँगा
मैं रंगे-हिना[2] आहंगे-ग़ज़ल[3]
अंदाज़े-सुख़न बन जाऊँगा
रुख़्सारे-उरूसे-नौ[4] की तरह
हर आँचल से छन जाऊँगा
जाड़ों की हवाएँ दामन में
जब फ़स्ले-ख़िज़ाँ[5] को लाएँगी
रहरौ[6] के जवाँ क़दमों के तले
सूखे हुए पत्तों से मेरे
हँसने की सदाएँ आएँगी
धरती की सुनहरी सब नदियाँ
आकाश की नीली सब झीलें
हस्ती से मिरी भर जाएँगी
और सारा ज़माना देखेगा
हर क़िस्सा मिरा अफ़साना है

1. मुख 2. मेहंदी का रंग 3. ग़ज़ल का स्वर 4. नई दुल्हन के कपोल 5. पतझर का मौसम 6. राहगीर, पथिक।

हर आशिक़ है सरदार यहाँ
हर माशूक़ा सुल्ताना है

मैं एक गुरेज़ाँ[1] लम्हा हूँ
अय्याम[2] के अफ़्सूँ ख़ाने[3] में
मैं एक तड़पता क़तरा हूँ
मसरूफ़े-सफ़र जो रहता है
माज़ी[4] की सुराही के दिल से
मुस्तक़बिल[5] के पैमाने में
मैं सोता हूँ और जागता हूँ
और जाग के फिर सो जाता हूँ
सदियों का पुराना खेल हूँ मैं
मैं मर के अमर हो जाता हूँ

—'एक ख़्वाब और' से

1. भागता हुआ 2. समय, काल 3. जादूघर 4. अतीत 5. भविष्य।

तुम नहीं आए थे जब

तुम नहीं आये थे जब, तब भी तो मौजूद थे हम
आँख में नूर की और दिल में लहू की सूरत
दर्द की लौ की तरह, प्यार की ख़ुशबू की तरह
बेवफ़ा वादों की दिलदारी का आगाज़ लिए

तुम नहीं आए थे जब, तब भी तो तुम आए थे
रात के सीने में महताब[1] के ख़ंजर की तरह
सुबह के हाथ में ख़ुर्शीद[2] के साग़र की तरह
शाख़े-ख़ूँ रंगे-तमन्ना में गुले-तर की तरह

तुम नहीं आओगे जब, तब भी तो तुम आओगे
याद की तरह, धड़कते हुए दिल की सूरत
ग़म के पैमानए-सरशार[3] को छलकाते हुए
बर्गहाए[4] लबो-रुख़सार को महकाते हुए
दिल के बुझते हुए अंगारे को दहकाते हुए
ज़ुल्फ़ दर ज़ुल्फ़ बिखर जाएगा फिर रात का रंग
शबे-तनहाई में भी लुत्फ़े-मुलाक़ात का रंग
रोज़ लाएगी सबा कूए-सबाहत[5] से पयाम
रोज़ गायेगी सहर तहनियते-जश्ने-फ़िराक[6]

1. चाँद 2. सूरज 3. भरा हुआ पैमाना 4. पत्ते 5. ख़ूबसूरती की गली 6. बिछोह के जश्न की मुबारकबाद।

आओ आने की करें बात कि तुम आये हो
अब तुम आये हो तो मैं कौन-सी शै नज़्र करूँ
कि मेरे पास बजुज़[1] मह्रो-वफ़ा कुछ भी नहीं
एक ख़ूँगश्ता[2] तमन्ना के सिवा कुछ भी नहीं

—'एक ख़्वाब और' से

1. सिवाय, अलावा, 2. विकल, बेचैन, घबराई हुई

सुब्हे-फ़र्दा

इसी सरहद पे कल डूबा था सूरज होके दो टुकड़े
इसी सरहद पे कल ज़ख़्मी हुई थी सुबहे—आज़ादी
ये सरहद ख़ून की, अश्कों की, आहों की, शरारों[1] की
जहाँ बोयी थी नफ़रत और तलवारें उगायी थीं

यहाँ मेहबूब आँखों के सितारे तिलमिलाये थे
यहाँ माशूक़ चेहरे आँसुओं में झिलमिलाये थे
यहाँ बेटों से माँ, प्यारी बहन भाई से बिछड़ी थी

ये सरहद जो लहू पीती है और शोले उगलती है
हमारी ख़ाक[2] के सीने पे नागिन बन के चलती है
सजा कर जंग के हथियार मैदाँ में निकलती है
मैं इस सरहद पे कब से मुंतज़र हूँ सुबहे-फ़र्दा[3] का

ये सरहद फूल की, ख़ुशबू की, रंगों को, बहारों की
धनक की तरह हँसती, नद्दियों की तरह बल खाती
वतन के आरिज़ों[4] पर ज़ुल्फ़ की मानिंद लहराती
महकती, जगमगाती, इक दुल्हन की माँग की सूरत
कि जो बालों को दो हिस्सों में तो तक़्सीम करती है
मगर सेंदूर की तलवार से, संदल की उंगली से

1. चिनगारियों 2. मिट्टी 3. आने वाले कल की सुबह 4. कपोल

ये सरहद दिलबरों की आशिकों की, बेक़रारों की
ये सरहद दोस्तों की, भाइयों की, ग़म गुसारों[1] की
सहर को आए ख़ुर्शीदे-दरख़्शाँ[2] पासबाँ[3] बनकर
निगहबानी हो शब को आसमाँ के चाँद तारों की
ज़मीं पामाल हो जाए भरे खेतों की योरिश[4] से
सिपाही हमला आवर हों दरख़्तों की क़तारों के
ख़ुदा मेहफ़ूज रक्खे इसको ग़ैरों की निगाहों से
पड़े नज़रें न इस पर ख़ूँ के ताजिर[5] ताजदारों की
कुचल दें उसको फ़ौलादी क़दम भारी मशीनों के
करे यलग़ार[6] उस पर ज़र्बकारी[7] दस्तकारी की
उड़ें चिनगारियों के फूल पत्थर के कलेजे से
झुके तेशों[8] की मेहराबों में गर्दन कोहसारों[9] की
लबों की प्यास ढाले अपने साक़ी अपने पैमाने
चमक उट्ठें मसर्रत से निगाहें सोगवारों की
मुहब्बत हुक्मराँ हो, हुस्न क़ातिल, दिल मसीहा हो
चमन में आग बरसे शोला पैकर[10] गुल अज़ारों[11] की
वो दिन आए कि आँसू होके नफ़रत दिल से बह जाए
वो दिन आए ये सरहद बोसा-ए-लब बन के रह जाए
ये सरहद मनचलों की, दिल जलों की, जाँ निसारों[12] की
ये सरहद सरज़मीने-दिल के बाँके शहसवारों की
ये सरहद कजकुलाहों[13] की ये सरहद कज अदाओं की
ये सरहद गुलशने-लाहौर-ओ-दिल्ली की हवाओं की
ये सरहद अम्नो-आज़ादी के दिल अफ़्रोज़[14] ख़्वाबों की
ये सरहद डूबते तारों, उभरते आफ़ताबों[15] की
ये सरहद ख़ूँ में लिथड़े प्यार के ज़ख़्मी गुलाबों की
मैं इस सरहद पे कब से मुंतज़र हूँ सुब्हे-फ़र्दा का

—'पैराहने-शरर' से, 25 सितंबर, 1965

---

1. हमदर्द, 2. दमकता हुआ सूर्य 3. रखवाला 4. हमला 5. व्यापारी 6. आक्रमण 7. गहरा आघात 8. काटने या खोदने के काम आने वाला लोहे का एक औज़ार 9. पहाड़ 10. अंगारों जैसे शरीर वाले 11. रुख़सार, कपोल 12. जान-न्योछावर करने वाले 13. तिरछी टोपी लगाने वाले 14. दिल को रोशन करने वाले 15. सूरजों।

गुफ़्तगू
(हिंद-ओ-पाक दोस्ती के नाम)

गुफ़्तगू बंद न हो

बात से बात चले
सुबह तक शामे-मुलाक़ात चले
हम पे हँसती हुई तारों भरी ये रात चले

हों जो अल्फ़ाज़ के हाथों में हैं संगे-दुश्नाम[1]
तंज़ छलकाये तो छलकाया करे ज़हर के जाम
तीखी नज़रें हों तुर्श अबरू-ए-ख़मदार[2] रहें
बन पड़े जैसे भी दिल सीनों में बेदार[3] रहें
बेबसी हर्फ़ को ज़ंजीर बपा[4] कर न सके
कोई क़ातिल हो मगर क़त्ले-नवा[5] कर न सके

सुबह तक ढल के कोई हर्फ़े-वफ़ा आएगा
इश्क़ आएगा बसद लग्ज़िशे-पा[6] आएगा
नज़रें झुक जाएँगी, दिल धड़केंगे, लब काँपेंगे
ख़ामुशी बोसा-ए-लब बनके महक जाएँगी
सिर्फ़ ग़ुंचों के चटकने की सदा[7] आएगी
और फिर हर्फ़-ओ-नवा की न ज़रूरत होगी

---

1. गालियों के पत्थर 2. तिरछी भौंहे 3. जाग्रत 4. जिसके पैरों में ज़ंजीर हो 5. आवाज़ का क़त्ल 6. लड़खड़ाते हुए पैरों से 7. आवाज़

चश्मो-अबरू[1] के इशारों में मुहब्बत होगी
नफ़रत उठ जाएगी, मेहमान मुरव्वत होगी
हाथ में हाथ लिए सारा जहाँ साथ लिए
तोहफ़ा-ए-दर्द लिए, प्यार की सौग़ात लिए

रेगज़ारों[2] से अदावत[3] के गुज़र जाएँगे
ख़ूँ के दरियाओं से हम पार उतर जाएँगे

गुफ़्तगू बंद न हो
बात से बात चले
सुबह तक शामे-मुलाक़ात चले
हम पे हँसती हुई तारों भरी ये रात चले

–'लहू पुकारता है' से, अगस्त 1966

1. आँख और भौंहें, 2. मरुस्थल, रेगिस्तान 3. वैमनस्य, मन-मुटाव

नवम्बर, मेरा गहवारा

(आपबीती और जगबीती)

रक़्से-तख़्लीक़[1]

जब कहीं फूल हँसे
जब कोई तिफ़्ल[2] सरे राह मिले
रात की शाख़े-रंग पे जब रात खिले
दिल ये कहता है हसीं है दुनिया
चीथड़ों में ही सही माह जबीं[3] है दुनिया
दस्ते-सैयाद[4] भी है बाज़ू-ए-जल्लाद भी है
रक़्से-तख़्लीक़े-जहाने-गुज़राँ[5] जारी है

खोल आँख, ज़मीं देख, फ़लक देख, फ़ज़ा देख

नवम्बर, मेरा गहवारा[6] है, ये मेरा महीना है
इसी माहे-मुनव्वर[7] में
मिरी आँखों ने पहली बार सूरज की सुनहरी रोशनी देखी
मिरे कानों में पहली बार इन्सानी सदा आई
मिरे तारे-नफ़स में जुंबिशे-बादे-सबा[8] आयी
मशामे-रूह[9] में

1. सृष्टि का नृत्य 2. बच्चा 3. चाँद जैसे माथे वाली 4. शिकारी 5. गुज़रती हुई दुनिया की रचना का नृत्य 6. पालना 7. आलोकित महीना 8. प्रातःकाल की हवा का स्पर्श 9. आत्मा की घ्राण शक्ति

मिट्टी की ख़ुशबू फूल बन कर मुस्कुरा उट्ठी
लहू ने गीत गाया
शम्मे-हस्ती जगमगा उट्ठी
ये लम्हा लम्हा-ए-मीलाद-ए-आदम[1] था
मैं सत्तर साल पहले इस तमाशागाहे-आलम में
इक आफ़ाक़ी[2] खिलौना था

हवा के हाथ सहलाते थे मेरे नर्म बालों को
मिरी आँखों में रातें नींद का काजल लगाती थीं
सहर की पहली किरनें चूमती थीं मेरी पलकों के
मुझे चाँद और तारे मुस्कुरा कर देखते थे
मौसमों की गर्दिशें झूला झुलाती थीं
मेरी बरसात में बारिश के छींटे
गर्मियों में लू के झोंके
मुझसे मिलने के लिए आते
वो कहते थे हमारे साथ आओ
चल के खेलें बाग़ो-सहरा
मिरी माँ अपने आँचल में छुपा लेती थी नन्हें से खिलौने
मिरी हैरत की आँखें
उस मुहब्बत से भरे चेहरे को तकती थीं
जिस आईने में पहली बार मैंने
अपना चेहरा आप देखा था

वो चेहरा क्या था
सूरज था, ख़ुदा था या पयम्बर था
वो चेहरा हो नहीं सकता
कि वो इक माँ का चेहरा था
जो अपने दिल के ख़्वाबों, प्यार की किरनों से रोशन था

1. मनुष्य के जन्म का क्षण 2. आकाशीय

वो पाकीज़ा मुक़द्दस[1] सीना-ए-ज़र्री[2]
वो इसमें दूध की नहरें
वो मौजे-कौसर-ओ-तस्नीम[3] थीं
या शहदो-शबनम थीं
उन्हीं की चंद बूदें आज एजाज़े-सुख़न[4] बनकर
उन्हीं की चंद बूँदें सि हर्फ़[5]-ओ-जादू-ए-लफ़्ज़-ओ-बयाँ[6] बनकर
मेरे होटों से ख़ुशबूए-ज़बाँ बनकर
सरे लौहो-क़लम आती हैं तो शमशीर की सूरत चमकती हैं।

हसीनों के लिए वो ग़ाज़ा-ए-रुख़्सारो-आरिज़[7] हैं
खनकती चूड़ियाँ, बजती हुई पायल को इक आहंग देती हैं
ज़मीं की गर्दिशें, तारीख़ की आवाज़े-पा ढलती जाती हैं
जो अब मेरी ज़बाँ है
मिरे बचपन में वो मेरी माँ की लोरी थी
ये लोरी इक अमानत है
मिरा हर शे'र अब इसकी हिफ़ाज़त की ज़मानत है

इक़्रा अल्लम बिल्क़लम[8]

मिरा पहला सबक़ इक़्रा
है तहसीने-क़लम जिसमें
है तकरीमे-क़लम जिसमें
क़लम तहरीके रब्बानी
क़लम तख़्लीक़े इनसानी
क़लम तहज़ीबे रूहानी
क़लम ही शाख़े तूबा भी है अंगुश्ते-हिनाई भी

1. पवित्र 2. स्वर्ण जड़ित सीना 3. कौसर और तस्नीम जन्नत की नहरों के नाम हैं 4. चमत्कार, करामात 5. तीन हर्फ़ (उर्दू में 'माँ' शब्द में तीन अक्षर होते हैं) 6. शब्द और अभिव्यक्ति का जादू, 7. कपोलों पर मलने वाला चूर्ण, एक सौंदर्य प्रसाधन 8. इक़्रा अर्थात् पढ़ो, अल्लम अर्थात् ज्ञान, बिल्क़लम अर्थात् क़लम से लिखना। भावार्थ यह है कि पढ़ो-लिखो और ज्ञानार्जन करो। (मूल संदर्भ देखिए—'क़ुर्आन' सूरा अल अलक़, 96: 1-5)

मिरे हाथों में आकर रक़्स करती है
हज़ारों दायरों में चाँद और सूरज की मेहराबें
दरख़्शाँ इल्म और हिकमत ती क़ंदीलें
हिलाले-नो का सीना माहे-कामिल का ख़ज़ाना है
मिरी उंगली ने पहले ख़ाक के सीने पे हर्फ़े-अव्वलीं लिक्खा
फिर इसके बाद तख़्ती पर क़लम का नक़्शे-सानी था
क़लम अंगुश्ते-इनसानी का जल्वा है
उरूजे-आदमे-खाक़ी का दिलकश इस्तिआरा है

फ़ितरत की फ़ैयाज़ियाँ

मुझे सूरज ने पाला
चाँद की किरनों ने नहलाया
हर एक शै मुझसे थी मानूस[1]
मुझसे बात करती थी
दरख़्तों की ज़बाँ
चिड़ियों के नग़में मैं समझता था
हवा में तितलियाँ पर्वाज़[2] करती थीं
मैं उनके साथ उड़ता था
मिरी मुट्ठी में जुगनू जगमगाते थे
मैं परियों के परिस्तानों में जाता था
अँधेरा काँपता था बिजलियों के ताज़ियाने[3] से
मैं इस पर मुस्कुराता था
गरजते बादलों से दोस्ती थी
ख़ाक पर चलते हुए कीड़ों पे बेहद प्यार आता था
हर इक शै जैसे मेरी ज़ात थी, मेरी हक़ीक़त थी
अनलहक़[4] ही सदाक़त[5] थी
हरे नीले सुनहरे सुर्ख़ अंडे
आशियानों में परिंदों के

1. सुपरिचित, 2. उड़ान 3. कोड़े 4. अहं ब्रह्मस्मि 5. सच्चाई।

वो मेरे सब खिलौने थे
मैं आफ़ाक़ी खिलौना
मैं ख़ुद फ़ितरत था फ़ितरत मेरी हस्ती थी
इसी फ़ितरत ने मेरे ख़ूँ में लाखों बिजलियाँ भर दीं
मसें भीगीं रगो-पे में जुनूँ का बाँकापन आया
मिरे आगे नये रंगों में दुनिया का चमन आया
हर एक शम्शाद पैकर[1] ले के फ़िरदौसे-बदन आया

जिधर देखो उधर बरनाइयाँ[2] हैं
जिधर देखो उधर रानाइयाँ[3] हैं
शफ़क़ के रंग में भीगी हुई परछाइयाँ हैं
मिरे लग्ज़ीदा-लग्ज़ीदा[4] क़लम ने
एक रंगीं और ख़ुशबूदार काग़ज़ पर

बड़ी मुश्किल से रुकते-रुकते हर्फ़े-इश्क़ लिक्खा
और किसी की बारगाहे हुस्न[5] में भेजा
हया की शम्अ जल उट्ठी हरीमे-दिलरुबाई में
घुमाया सर झुकाकर देर तक कंगन कलाई में

ज़िक्र उस परीवश का और फिर बयाँ अपना

कहाँ से आयी हो
कौन हो तुम
न गुल न ख़ुशबू
मगर तुम्हारा वजूद ख़ुद रूहे-गुलिस्ताँ है
वो काइनाते-सरवर[6] जिसका
ख़ुद अपना सूरज है चाँद अपना
मैं काइनाते-सरवर में साँस ले रहा हूँ
शकुंतला है यहाँ न हैलन

1. लम्बा ख़ूबसूरत वृक्ष 2. जवानियाँ 3. सुंदर दृश्यावलियाँ 4. काँपते-काँपते, 5. हुस्न की अदालत 6. सर्वोच्च ब्रह्मांड।

न हीर है और न जूलियट है
फ़कत तुम्हारे बदन का मौसम
जो मेरी नज़रों की नर्म बारिश में
रंग और नूर बन गया है
कोई नहीं तुमसे बढ़ के दुनिया-ए-दिलबरी में
कोई नहीं तुमसे बढ़ के दुनिया-ए-आशिक़ी में
हर एक से तुम हसीनतर हो
हर एक मैं तुम अज़ीमतर हूँ
तुम्हारे होटों के ख़म में जो लफ़्ज़ बन रहे हैं
वो मेरे सीने में फूल की तरह खिल रहे हैं
तुम्हारी 'हाँ' इक गुलाब है ताज़ा-ओ-शगुफ़्ता[1]
कि जिससे ऐवाने-जाँ[2] मुअत्तर[3]
'नहीं' भी नन्ही-सी इक कली है
जो दिल की नाज़ुक-सी शाख़ में सो रही है
ख़्वाबे-बहार बन कर
ये ख़्वाब ताबीर[4] के गुलसिताँ का मुंतज़र है

तुम्हारे दिलकश बदन के रंगों में मुज़्तरिब[5] हैं
तुम्हारी आँखों में झाँकता है
तुम्हारी साँसों में काँपता है
मुझे 'नहीं' की कली अता हो
कि जिससे 'हाँ' का गुलाब महके
तुम्हारे शहरे-जमाल में
मेरे दिल का कासा[6]
भटक रहा है
तुम अपने होंटों का शहद
आँखों के फूल
हाथों का चाँद दे दो

1. खिला हुआ 2. प्राणों का घर 3. सुगंधित 4. साकार होना, 5. बेचैन 6. बर्तन, पात्र

ये मुफ़लिसी की स्याह रातें
वजूद पे तंज़ कर रही हैं

ज़मीन का रंग तुम ज़मीं का जमाल तुम हो
ज़मीं की दौलत
ज़मीं की बेटी
तुम अप्सराओं और हूरों से पाकतर हो
कि वो तसव्वुर के आसमानों की पुतलियाँ हैं
तमाम हिस-ए-गुमाँ[1] का पैकर[2]
मगर तुम उस ख़ाक की चमक हो
कि जिसकी नस-नस में
सेब, अंगूर और गेहूँ की फ़स्ल का ख़ूँ रवाँ-दवाँ है
सहर का सूरज तुम्हारे माथे को चूमता है
बदन में शबनम की रोशनी है

हवाएँ जो मेरी राज़दाँ हैं
वो मेरे होटों से लफ़्ज़ लेकर
तुम्हारे कानों की सीपियों में
गुहर[3] की मानिंद डालती हैं
मैं मुस्कुराता हूँ
तुम भी हँसती हो
और दोनों
नई तमन्नाओं के जज़ीरों[4] में घूमते हैं
न कोई महकूम[5] है न हाकिम
न कोई क़ानून है न सख़्ती
बस एक ज़ंजीरे-लुत्फ़, शमशीरे-दिलरुबाई

1. अनुमान करने की शक्ति 2. शरीर 3. मोती, 4. द्वीप, टापू 5. शासित

वरक़-ए-नाख़्वांदा[1]

मैं इक वरक़ हूँ
लिखा है किसने
पढ़ा हैं किसने
हर इक दरख़्त इक क़लम है हर शाख़ इक क़लम है
समंदरों की दवात
नदियों में पिघली चाँदनी की रोशनाई
फ़ज़ा के सैयाले-नीलगूँ[2] से
हवाओं के हाथ लिख रहे हैं
ज़मीन का रक़्स लिख रहा है
ज़मीन की पुश्त से निकलता गुलाबी सूरज
सुनहरी किरनों से लिख रहा है
गुज़रते लम्हात अपने तीरों से लिख रहे हैं
गुज़रती तारीख़ अपने नेज़ों[3] से लिख रही है
तमाम अहबाब[4] लिख रहे हैं
तमाम अग़ियार[5] लिख रहे हैं
हरीफ़ों[6] के ख़ंजरों पे ख़ूँ है
सियासते-मक्रो-फ़न[7] की तलवार लिख रही है
महकते ज़ख़्मों के फूल अल्फ़ाज़ बन गए हैं
तबस्सुमे-लफ्ज़े-यार का हर्फ़-हर्फ़ है गुंचए-शगुफ़्ता[8]
हदस[9] के ख़ारों की नोक में जुंबिशे-क़लम है
ज़बाने-दुश्नाम[10] लिख रही है
ज़बाने-बदनाम लिख रही है
ज़बाने-नाकाम लिख रही है
मगर मिरा दिल, मिरा जुनूँ भी तो लिख रहा है
मैं इक वरक़ हूँ

1. न पढ़ा गया वरक़ 2. वायुमंडल रूपी नीला समुद्र 3. भालों, 4. अपने लोग 5. पराये लोग 6. दुश्मन 7. छलकपट की राजनीति 8. खिली हुई कली 9. वह चीज़ जिससे वुज़ू टूट जाये 10. अपशब्दों की भाषा, गालियों की ज़बान।

तमाम एहसासे नातमामी
मगर मुकम्मल किताब जैसे
जो पढ़ सको तो मुझे बताना कि इस सहीफ़े[1] में क्या लिखा है

सहीफ़ा-ए-काइनात

ये दो वरक़ हैं
ज़मीन और आसमान जिन पर
सहीफ़ा-ए-काइनात तहरीर[2] हो रहा है
फ़साना हस्ती का नेस्ती[3] का
फ़साना नेकी का और बदी का
फ़साना ज़ुल्मत का रोशनी का
सहीफ़ा-ए-काइनात तहरीर हो रहा है
जो कल कली थी
वो आज गुल है
जो आज गुल है
वो कल समर[4] है
हर एक शै वक़्त की हवाओं की ज़द पे
इक शम्मे-रहगुज़र है
जो बुझ रही है
जो जल रही है
वजूद पर नाज़ कर रही है

हवाओं के तुंदो-तेज़ झोंके
जब आँधियों का लिबास पहने
उतरते हैं ग़ारते-चमन[5] पर
तो शाख़े-गुल अपना सर झुकाकर सलाम करती है
और फिर सर उठाकर हँसती है
और कहती है मुझको देखो

1. आसमानी किताब 2. लिखना 3. अनस्तित्व 4. फल 5. चमन की बर्बादी।

मैं फ़ितरते-लाज़वाल[1] का रंगे-शाइरी हूँ
वजूद का रक़्से-दिलबरी[2] हूँ
जिसे मिटाने की कोशिशें हैं
वो मिट सका है न मिट सकेगा
ये रंग सहने-चमन[3] से उबलेगा
मक़्तलों[4] से तुलूअ[5] होगा

हर्फ़-ए-बद

मिरे खिलाफ़ उठाया क़लम हरीफ़ों[6] ने
मिरा ग़ुरूर बढ़ा और सर बुलंद हुआ
यही सलीक़ा है बस हर्फ़े बद से बचने का
कि अपनी ज़ात को इतनी बुलंदियाँ दे दो
किसी का संगे-मलामत[7] वहाँ तक न आ सके
सदा-ए-कू-ए-मलामत[8] तलाश करती है
मगर नवा-ए-बहार आशना[9] को पा न सके
चिराग़े इल्मो-हुनर को कोई बुझा न सके

जिओ तो अपने दिलो-जाँ के मैकदे में जिओ
खुद अपने ख़ूने-जिगर की शराबे-नाब पिओ
जहाँ के सामने जब आओ ताज़ा रू आओ
हुज़ूरे-महतसब-ओ-शेख़[10] में सबू[11] लाओ
दिले-शिकस्ता में बढ़ने दो रोशनी ग़म की
ये रोशनी है तो मीरासे-इब्ने-आदम[12] की
ये रोशनी कि जो तलवार भी सिपर[13] भी है
मिरी निगाह में पैमाना-ए-हुनर भी है

1. अनश्वर प्रकृति 2. प्रेम का नृत्य 3. चमन का आँगन, 4. वध स्थल 5. उदित होना 6. दुश्मनों, 7. निंदा या भर्त्सना का पत्थर 8. निंदा की गली से आने वाली आवाज़ 9. बहार को चाहने वाली आवाज़ 10. क़ाज़ी व शेख़ के सामने 11. सुराही 12. पूर्वजों की धरोहर, विरासत 13. ढाल।

हसद

हसद[1] की आँखों में रंग देखो
जो दिल के अंदर भरे हुए हैं
वो ज़हर-आलूदासंग[2] देखो

जो हाथ में हैं वो फूल देखो
जो रूह में हैं बबूल देखो
लबों पे जो है वो हर्फ़ देखो
हक़ीर[3] कितना है ज़र्फ़[4] देखो
कि दोस्त हैं
और दोस्त के मुँह पे बात कहने से डर रहा है
वजूद ज़ाहिर में है मुकम्मल
मगर वो अंदर बिखर रहा है
वो अपनी नफ़रत का ज़हर लेकर
खुद अपने ख़ूँ में उतर रहा है
वो तंग दिल भी है तंग जाँ भी
तुनुक ज़मीर और तुनक ज़बाँ भी
ख़बर नहीं उसको वो कहाँ है
कि हर तरफ़ इक शख़्स ऐसा नज़र के अंदर बसा हुआ है
कि जिसके साये से काँपता है
जब अपना क़द उससे नापता है
तो अपने ख़ंजर को तौलता है
हसद का मारा हुआ ये बंदा ग़रीब शहरे-दयार ख़ुद है
शराफ़ते-नफ़्स[5] मर चुकी है बेचारा ख़्वेशआशना[6] नहीं है

मगर इसी दोस्त की बदौलत
मैं ख़ुद को पहचानने लगा हूँ
मैं उसका अहसान मानता हूँ

1. ईर्ष्या 2. ज़हर बुझे हुए पत्थर 3. तुच्छ, उथला 4. पात्रता, गहराई 5. हृदय की शालीनता, भीतर की शराफ़त 6. स्वयं से परिचित

खुदा करे उसका दिल कहीं से
सुकूँ की दौलत तलाश कर ले

क़ातिल की शिकस्त

इस कमींगाह[1] में हैं कितने कमाँदार बताओ
तीर कितने हैं सियह तरकश में
गिन के देखो तो ज़रा
कौन-सा तीर है मख़्सूस मिरे दिल के लिए

इब्ने-मरियम[2] को किया तुमने सरे-दार बुलंद
और वो ज़िंदा है
तिश्नगी[3] तुमने मुहम्मद के नवासे को दी
'चश्मए-फ़ैज़े-हुसैन इब्ने-अली जारी है'

इब्ने-मरियम न हुसैन इब्ने-अली हूँ लेकिन
ख़ूँ में है ख़ूने-शहादत की हरारत पिन्हाँ[4]
वो जो सदियों से दहकता हुआ अंगारा है
और सीने में मिरे
एक नहीं सैंकड़ों लाखों दिल हैं
वो किसी देस का दिल हो कि किसी क़ौम का दिल
वो किसी फ़र्दे-बशर[5] का दिल हो
ज़ख़्म ख़ुर्दा[6] हो कि नग़मों से भरा
मेरे सीने में धड़कता है मिरा दिल बनकर
कितने दिल क़त्ल करोगे आख़िर
कितने जलते हुए तारों को बुझा सकते हो
कितने ख़ुर्शीदों[7] को नेज़ों[8] पे उठा सकते हो
'क़त्ल करते-करते खुद तुमको जुनूँ हो जायेगा'

(अपूर्ण)

1. शिकार करने की जगह 2. हज़रत ईसा 3. प्यास 4. छुपी हुई 5. इनसान 6. ज़ख़्म खाया हुआ, आहत 7. सूर्यों 8. भालों, एक नुकीला लम्बा हथियार

ग़ज़ल

काम अब कोई न आयेगा बस इक दिल के सिवा
रास्ते बंद है सब कूचए-क़ातिल के सिवा

बाइसे रश्क है तनहा रविए[1] रहरव-ए-शौक़[2]
हमसफ़र कोई नहीं दूरिए-मंज़िल के सिवा

हमने दुनिया की हर इक शै से उठाया दिल को
लेकिन इक शोख़ के हंगामए-महफ़िल के सिवा

तेग़े-मुंसिफ़ हो जहाँ, दारो-रसन[3] हों शाहिद
बेगुनह कौन है इस शहर में क़ातिल के सिवा

जाने किस रंग से आयी है गुलिस्ताँ में बहार
कोई नग़मा ही नहीं शोरे-सलासिल[4] के सिवा

1. अकेले चलना 2. प्रेम-पथिक 3. सूली और फाँसी 4. ज़ंजीरों की खनखनाहट का शोर

ग़ज़ल

फिर शमीमे-गुल[1] नवेदे-जाँ फ़ज़ा[2] लाई है आज
मेरे गुलशन में बहारे-रफ़्ता फिर आई है आज

फिर उठा है वादिए-गंगा से अब्रे-नो बहार[3]
सिम्ते-रावी से हवाए-महरबाँ आई है आज

आज फिर है इत्तिहादे-शीशा-ओ-साग़र[4] का दौर
महफ़िले-रिंदाँ[5] में जश्ने-बादा पैमाई है आज

चश्मे-साक़ी तुझमें सारा मैकदा आबाद है
क़ामते-रा'ना में मौजे-मय की अंगड़ाई है आज

खुल गये हैं इश्तियाक़े-दीद[6] में आँखों के दर
दोस्तों की ख़ानए-दिल में पज़ीराई[7] है आज

'आ मिले हैं सीना चाकाने-चमन से सीना चाक'[8]
शोर है महफ़िल में दीवानों की बन आई है आज

1. फूलों की सुगंध 2. शुभसूचना 3. नई बहार के बादल 4. मदिरा पान की एकता 5. पीने वालों की महफ़िल 6. दर्शन की उत्कंठा 7. प्रशंसा 8. दुःखी और सताये हुए लोगों का मिलना

फिर वही गलियाँ वही अगला तवाफ़े-कूए-दोस्त[1]
इश्क़ को मज़्दा कि फिर सामाने-रुस्वाई है आज

कौन है जिससे सँभाला जायेगा मेरा जुनून
ख़ुद ही पाए-शौक़[2] को ज़ँजीर पहनाई है आज

डर रहा हूँ जानो-तन को फूँक डालेगी ये आग
मेरे सीने में जो ज़ब्ते-ग़म ने भड़काई है आज

आज बेबाकी में है अहले-ख़िरद[3] की मस्लेहत
सरफ़रोशी ही में अहले-दिल की दानाई[4] है आज

मुस्कुराये ज़ख़्मे-दिल, हँसने लगे सीने के दाग़
रूहे-इतिस्बदाद[5] कैसी-कैसी शरमाई है आज

ख़ूने-नाहक़ लाला-ओ-गुल बन के फूटा ख़ाक से
तेशाज़न के ख़ूँ से दश्तो-दर[6] की ज़ेबाई[7] है आज़

कह दो सैयादों से गुलचीनों[8] को कर दो होशियार
फ़स्ले-गुल ने दूर तक ज़ंजीर फैलाई है आज

हाँ यही है रोज़े-महशर[9], हाँ यही रोज़े-हिसाब
तेरी रुस्वाई है अब या मेरी रुस्वाई है आज

फिर है मीनारों पे रा'शा[10] फिर हैं गुंबद सरनिगूँ[11]
फिर नवा शाइर की ऐवानों से टकराई है आज

1. प्रिय की गली की परिक्रमा 2. चाहत के पैर 3. बुद्धि की बात मानने वाले 4. बुद्धिमानी 5. अत्याचार या ज़ुल्म की रूह 6. जंगल और घर 7. सजावट 8. फूल चुनने वाले 9. हश्र या क़यामत का दिन 10. कँपकँपाहट 11. झुकना

आज फिर क़दमों पे मेरे झुक रही है काइनात
मेरे क़ब्ज़े में जहाने-नो की दाराई[1] है आज

ख़ाक पर झुकती नहीं, अफ़्लाक[2] पर रुकती है आज
जो निगह तक़दीरे-आलम की तमाशाई है आज

एक साहिल है कि उभरा है भँवर की गोद में
एक कश्ती है कि तूफ़ानों से टकराई है आज

रंगे-मय, हुस्ने-निगाराँ, जश्ने-गुल, फ़स्ले-बहार
हिंद की रूहे-जवाँ शे'रों में खिंच आई है आज

जल उठा नब्ज़ों में ख़ूँ रोशन हुए दिल में चिराग़
शाइरे-आतिश नवा[3] ने आग बरसाई है आज

1. बादशाहत 2. फ़लक का बहुवचन, बहुत से आकाश 3. वह शाइर जिसके स्वरों में अग्नि हो, क्रांतिकारी शाइर

ग़ज़ल

आये हैं हम ग़ालिबो-इक़बाल के नग़्मात के बाद
मुस्हफ़े-इश्क़ो-जूनूँ[1] हुस्न की आयात[2] के बाद

ऐ वतन, ख़ाके-वतन वो भी तुझे दे देंगे
बच गया है जो लहू अब के फ़सादात के बाद

नारे-नम्रूद[3] यही और यही गुलज़ारे-ख़लील[4]
कोई आतिश[5] नहीं आतिशकदा-ए-ज़ात के बाद

राम-ओ-गौतम की ज़मीं, हुरमते-इनसाँ[6] की अमीं[7]
बाँझ हो जाएगी क्या ख़ून की बरसात के बाद

हमको मालूम है वादों की हक़ीक़त क्या है
बारिशे-संगे-सितम, जामे-मुदारात[8] के बाद

तिश्नगी है कि बुझाये नहीं बुझती 'सरदार'
बढ़ गई कौसर-ओ-तस्नीम[9] की सौग़ात के बाद

1. इश्क़ और जुनून की किताबें 2. आयत का बहुवचन 3. एक अत्याचारी बादशाह नम्रूद की आग 4. हज़रत इब्राहीम का बागीचा 5. आग 6. मनुष्य की गरिमा 7. रक्षक, अमानत रखने वाली 8. आव-भगत, ख़ातिर तवाज़ह 9 जन्नत की दो नहरों के नाम

ग़ज़ल

शम्अ का, मय का, शफ़क़ज़ार[1] का गुलज़ार का रंग
सब में और सबसे जुदा है मिरे दिलदार का रंग

तहे-आरिज़[2] जो फ़रोज़ाँ[3] हैं हज़ारों शम्एँ
लुत्फ़े-इक़रार है या शोख़िए-इनकार का रंग

आई महकी हुई फिर जश्ने-मुलाक़ात की रात
जाम में ढलने लगा शाम के रुख़सार का रंग

अक्से-साक़ी से दमक उट्ठी है साग़र की ज़बीं[4]
और कुछ शोख़ हुआ बादा-ए-गुलनार का रंग

उनके आने को छुपाऊँ तो छुपाऊँ कैसे
बदला-बदला-सा है मेरे दरो-दीवार का रंग

और है इश्क़ की नज़रों का निखारा हुआ रूप
यूँ तो शाइस्ता था पहले भी रुख़े-यार का रंग

मौजे-तूफ़ाँ भी है और जोशे-बहाराँ भी है
कौन-सा देखोगे तुम दीदए-ख़ूँबार[1] का रंग

1. सूर्योदय से पूर्व की लालिमा 2. कपोलों के भीतर 3. आलोकित 4. भाल, माथा 5. ख़ून से तर आँखें

शफ़क़े-सुब्हे-शहादत[1] से है ताबिंदा[2] जबीं
वरना आलूदा-ए-ख़ूँ था उफ़क़े-दार[3] का रंग

आफ़ताबों की तरह जागी है इन्सान की जोत
जगमगाता है सरा पर्दए-असरार[4] का रंग

वक़्त की रूह मुनव्वर[5] है नवा[6] से मेरी
अस्रे-नौ[7] में है मिरी शोख़िए-गुफ़्तार का रंग

1. शहादत की सुबह की भोर 2. दीप्त 3. सूली का क्षितिज 4. रहस्य का पर्दा 5. रोशन, आलोकित 6. आवाज़ 7. नया दौर

ग़ज़ल

अक़ीदे[1] बुझ रहे हैं शम्ए-जाँ गुल होती जाती है
मग ज़ौक़े-जुनूँ[2] की शोला सामानी नहीं जाती

ख़ुदा मालूम किस-किस के लहू की लालाकारी[3] है
ज़मीने-कूए जानाँ आज पहचानी नहीं जाती

अगर यूँ है तो क्यूँ है, यूँ नहीं तो क्यूँ नहीं आख़िर
यक़ीं मुहकम[4] है लेकिन दिल की हैरानी नहीं जाती

लहू जितना था सारा सर्फ़े-मक़्तल हो गया लेकिन
शहीदाने-वफ़ा के रुख़ की ताबानी[5] नहीं जाती

परीशाँ रोज़गार, आशुफ़्ताँ हालाँ[6] का मुक़द्दर है
कि उस ज़ुल्फ़े-परीशाँ की परेशानी नहीं जाती

हर इक शै और महँगी और महँगी होती जाती है
बस इस ख़ूने-बशर है जिसकी अरज़ानी[7] नहीं जाती

नये ख़्वाबों के दिल में शोलए-ख़ुर्शीदे-महशर[8] है
ज़मीरे-हज़रते-इनसाँ की सुल्तानी नहीं जाती

लगाते हैं लबों पर मुहर अर्बाबे-ज़बाँ बंदी[9]
अली सरदार की शाने-ग़ज़ल ख़्वानी नहीं जाती

---

1. आस्थाएँ 2. जुनून की रुचि, उन्मादपूर्ण स्वभाव 3. सुर्ख रंग के फूलों का सौंदर्य 4. मज़बूत, दृढ़ 5. चमक, आभा 6. परेशान हाल, आशिक़ 7. सस्तापन 8. हश्र के दिन के सूरज की गर्मी 9. शाइरी के हुनर के मालिक, बड़े शाइर

ग़ज़ल

शिकस्ते-शौक़ को तक्मीले-आरज़ू[1] कहिए
जो तिश्नगी हो तो पैमाना-ओ-सुबू[2] कहिए

ख़याले-यार को दीजे विसाले-यार का नाम
शबे-फ़िराक़[3] को गैसूए-मुश्को-बू[4] कहिए

चिराग़े-अंजुमन सब हैरते-नज़ारा थे
वो लालारू[5] जिन्हें अब दाग़े-आरज़ू कहिए

महक रही है ग़ज़ल ज़िक्रे-ज़ुल्फ़े-ख़ूबाँ[6] से
नसीमे-सुब्ह[7] की मानिंद कू-ब-कू[8] कहिए

शिकायतें भी बहुत हैं, हिकायतें[9] भी बहुत
मज़ा तो जब है कि यारों के रूबरू कहिए

ब हुक्म, कीजिए फिर ख़ंजरों की दिलदारी
दहाने-ज़ख़्म[10] से अफ़्साना-ए-गुलू कहिए

---

1. आरज़ू का पूरा होना 2. पैमाना और सुराही 3. वियोग की रात 4. सुगंधित केश 5. लाला के फूल जैसे मुख वाले 6. प्रेमिका, ख़ूबसूरत चेहरे वाली 7. प्रातःकाल की वायु 8. गली-गली 9. क़िस्से-कहानियाँ 10 ज़ख़्म का सूराख़

ज़बाने-तेग़ से करते हैं पुरसिशे-अहवाल[1]
और इसके बाद ये कहते हैं आरज़ू कहिए

है ज़ख्म ज़ख्म मगर क्यूँ न जानिए उसे फूल
लहू-लहू है, मगर क्यों उसे लहू कहिए

समझिए क़ामते-याराने-कजअदा[2] की क़बा[3]
हिनाए-पाए-निगाराने-तुंद ख़ू कहिए

जहाँ जहाँ भी ख़िज़ां है वहीं-वहीं है बहार
चमन-चमन यही अफ़्साना-ए-जमू कहिए

ज़मीं को दीजिए दिले-मुद्दआ तलब का पयाम
फ़ज़ा को वुस्अते-दामाने-आरज़ू[4] कहिए

सँवारिए ग़ज़ल अपनी बयाने-ग़ालिब से
ज़बाने-मीर में हाँ-हाँ कभू-कभू कहिए

मगर वो हर्फ़ धड़कने लगे जो दिल की तरह
मगर वो बात जिसे अपनी गुफ़्तगू कहिए

वो जिसके फ़ैज़ से ग़ालिब हुआ था नग्मासरा
ज़बान है जिसे दिल्ली की आबरू कहिए

रवानी ऐसी कि गंगा की खाइए क़स्में
जवानी ऐसी कि जन्नत की आबे-जू[5] कहिए

रहे तो मुअज्जज़ए-नुत्क़[6] की दुआ दीजे
मिटे तो आँख से टपका हुआ लहू कहिए

जराहतों[7] की सियासत है जिनका फ़न 'सरदार'
अब उनसे कहिए तो क्या हाजते-रफ़ू[8] कहिए

---

1. कुशल क्षेम पूछना 2. तिरछी अदाओं वाले प्रेमी 3. परिधान 4. आरज़ू के दामन का विस्तार 5. नहर 6. वाणी का चमत्कार 7. ज़ख्म, घाव 8. रफ़ू करने की ख़्वाहिश

सहायक पुस्तकें

1. कुल्लियात अली सरदार जाफ़री : भाग एक, संपादक अली अहमद फ़ातमी, क़ौमी काउंसिल बराए फ़रोग़े उर्दू, नई दिल्ली, 2004 ई.
2. कुल्लियात अली सरदार जाफ़री : भाग दो, संपादक अली अहमद फ़ातमी, क़ौमी काउंसिल बराए फ़रोग़े उर्दू, नई दिल्ली, 2005 ई.
3. अली सरदार जाफ़री : एक मुतालेआ : रफ़िया शबनम आबिदी, उर्दू विभाग मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई 2002 ई.
4. सरदार जाफ़री की नादिर तहरीरें : मुहम्मद फ़िरोज़, साक़ी बुक डिपो, दिल्ली, 2004
5. अली सरदार जाफ़री : शख़्स, शाइर, अदीब : अब्दुससत्तार दलवी : हाजी गुलाम मुहम्मद आज़म ट्रस्ट, पुणे, 2002 ई.
6. सरदार जाफ़री : शख़्सियत और फ़न : असग़र अब्बास, उर्दू विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ , 2002 ई.
7. उर्दू में तरक़्क़ी पसंद अदबी तहरीक : ख़लीलुर्रहमान आज़मी, एजुकेशनल बुक हाउस, अलीगढ़ 2002 ई.
8. गोशा-ए-जाफ़री : 'नया सफ़र' : अली अहमद फ़ातमी, मिर्ज़ा ग़ालिब रोड इलाहाबाद, 2000 ई.
9. अली सरदार जाफ़री नंबर : 'अफ़्कार' कराची, 1991
10. पैग़ंबराने-सुख़न : अली सरदार जाफ़री, ऐडशाट पब्लिकेशंज़, मुंबई, 1970
11. तराना-ए-जम्हूर : सरदार जाफ़री, नवयुग पब्लिशर्ज़, दिल्ली, 1978
12. रौशनाई : सज्जाद ज़हीर, मक्तबा दानियाल, कराची, 1976
13. इक़बाल शनासी : अली सरदार जाफ़री, 1969

14. तरक़्क़ीपसंद अदब : सरदार जाफ़री, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू (हिंद), अलीगढ़, 1957
15. लखनऊ की पाँच रातें : सरदार जाफ़री, 1965
16. सरदार जाफ़री : फ़न और शख़्सियत : नंद किशोर विक्रम, दिल्ली

❑❑❑